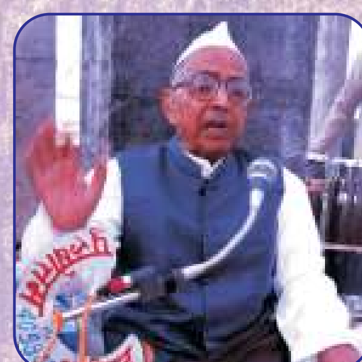

मङ्गल समर्पण

7

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन : आत्महितकारी सम्बोधन

निरन्तर स्मरण रखने योग्य ....

1- अनादि काल से आज तक किसी भी परद्रव्य ने मेरा भला-बुरा किया ही नहीं;

2- अनादि काल से आज तक मैंने भी किसी भी परद्रव्य का भला-बुरा किया ही नहीं;

3- अनादि काल से आज तक नुक्सानी का ही धन्धा किया है; यदि नुक्सानी का धन्धा न किया होता तो संसार परिभ्रमण मिट गया होता, सो हुआ नहीं;

4- वह नुक्सानी, मात्र एक समय की पर्याय में हैं, द्रव्य-गुण में नहीं है;

5- यदि पर्याय की नुक्सानी मिटानी हो और पर्याय में शान्ति लानी हो तो एकमात्र अपने अनन्त गुणों के अभेद पिण्ड की ओर दृष्टि कर।

दिनाँक - 16-2-94

जैसी मति - वैसी गति

सुख कैसे हो? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र की प्राप्ति होते ही जीव, सुखी हो जाता है। कैसे हो प्राप्ति? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व सर्वथा नहीं हूँ; प्रत्येक द्रव्य अपनी सत्ता में ही रहता है — ऐसा मानसिक ज्ञान में आते ही दृष्टि, स्वभाव पर आ जाती है — सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति हो जाती है। किसके आश्रय से? जीवतत्त्व के आश्रय से। शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति जिसके आश्रय से होती है - वह कारण, त्रिकाली स्वभाव आनादि-अनन्त मैं ही तो हूँ।

चारों अनुयोगों में मुझ त्रिकाली अनादि-अनन्त एकरूप स्वभाव की ही महिमा गायी है। उसकी महिमा क्यों नहीं आती? शरीर को अपना मानने के कारण। एक समय के लिये दृष्टि में शरीर को अपना न माने, उसी समय सुखी हो जाए। किसी भी क्षेत्र, किसी भी काल में धर्म की प्राप्ति का उपाय एकमात्र यही है।

वर्तमान में ज्ञान की पर्याय एक समय के लिये त्रिकाली स्वभाव में एकता करे, उसी समय मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। पूर्णता नहीं हुयी, अभी अस्थिरता का राग है परन्तु उस राग की नया पैसा भी कीमत नहीं है; बन्धमार्ग है। शुद्धि है, वीतरागभाव है, वह मोक्ष का मार्ग है। जैसे-जैसे अपने स्वभाव में स्थिरता करता जाता है, क्रम से पूर्णता को प्राप्त कर, अक्षय मोक्षसुख की प्राप्ति करता है।

इसके विपरीत जो अजीवतत्त्व को अपना मानकर, उसी को मिलाने-जुटाने में लगा रहता है, वह चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

जिसको पद चाहिए, मान चाहिए, वह धर्म के लायक नहीं है।

शरीर से भिन्न निजात्मा के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से सरल कोई कार्य ही नहीं है, क्योंकि जो स्वयं है, वह ही तो अपने को मानना है।

त्रिकाली स्वभाव में राग नहीं, जिसको अपना पता चला, वह राग को अपना नहीं मानता।

जो भगवान की आज्ञा नहीं मानता, उनकी विराधना करता है, वह चारों गतियों में भटकता फिरता है —यह तात्पर्य 'जैसी मति, वैसी गति' और 'जैसी गति, वैसी मति' से है।

वीतरागी गुरु तो वीतरागमार्ग का ही उपदेश देते हैं। जो राग की पुष्टि का उपदेश दे तो, उसे वीतरागमार्गी कौन कहे? जो मिथ्यामार्ग का उपदेश दे, जो 'तू यह नया पाप कर' ऐसा पाप का उपदेश दे तो, वह वीतरागमार्ग से विरुद्ध है। धर्मी तो कहता है - हमारा तत्त्व, राग से अत्यन्त भिन्नपने जयवन्त है। अहो! इस तत्त्व की महिमा की क्या बात?

वाह! देखो तो सही, मुनिराज तो सिद्धों के साथ बातें करते हैं। प्रभु! तेरे जैसा मेरा स्वभाव, मैंने अपने में अनुभव किया; इसलिए मैं तेरे समीप ही हूँ; तुझसे जरा भी दूर नहीं हूँ।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

छह द्रव्य, पाँच, अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों में, निज शुद्धात्मद्रव्य, निजशुद्धजीवास्तिकाय, निजशुद्धात्मतत्त्व और निजशुद्धात्म पदार्थ ही उपादेय हैं, और अन्य सर्व हेय हैं।

– श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

मैं तो अनादि-अनन्त एकरूप भगवान आत्मा हूँ। मुझ आत्मा का कैलाशचन्द्र से, कैलाशचन्द्र के कार्यों से, अत्यन्त भिन्न पदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। कोई किसी का बुरा कर नहीं सकता, भला नहीं कर सकता। दूसरे का बुरा होना या भला होना तो उसके अपने पाप-पुण्य के आधीन है। स्वयं दूसरे का बुरा या भला करने का भाव करके, जीव स्वयं का ही बुरा करता है। किसी को ठगने का भाव करके, जीव स्वयं को ठगता है। किसी की हिंसा का भाव करके, स्वयं की हिंसा करता है; दूसरे को ठगना या हिंसा करने में त्रिकाल में समर्थ ही नहीं है। द्रव्यकर्म, नोकर्म के कार्यों का कर्ता सर्वथा पुद्गल है; जीव से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। सुबह से शाम तक जितना कार्य दिखते है, वे सर्वथा पुद्गल का है परन्तु ऐसा न मानकर, स्वयं पर का कर्ता, भोक्ता व पर का स्वामी बनता है।

जैसे, गाड़ी चलती है साथ में कुत्ता चल रहा है। गाड़ी ठहर गयी, कुत्ता भी ठहर गया। अब कुत्ते ने गाड़ी चलायी या ठहरायी ? न चलायी, न ठहरायी। जिस प्रकार कुत्ता मानता है कि मैंने गाड़ी चलायी, मैंने गाड़ी ठहरायी; उसी प्रकार व्यर्थ में मिथ्यादृष्टि, शरीर के, अत्यन्त भिन्न के कार्यों का कर्ता बनता है कि मैं उठता हूँ, मैं खाना-बनाता हूँ, मैं घर की देखभाल करता हूँ — उस समय वह कुत्ता ही है।

जैसे कुत्ता, हड्डी चबाता है, उससे अपना लहू निकलता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डी का स्वाद है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, व्यर्थ में पर का भोक्ता बनता है, जबकि ज्ञान या इच्छा का परपदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वर्तमान में मनुष्यभव, जैनकुल मिलने पर भी, पर का भोक्ता बनता है तो वह कुत्ता ही है।

जैसे दो कुत्ते आपस में लड़ते हैं, भौं-भौं करते हैं तो क्या उनकी सम्पत्ति का बँटवारा हो रहा है ? उसी प्रकार वर्तमान में मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म, सच्ची बात सुनने पर भी जो जीव, सम्पत्ति, धन, आदि के बँटवारे के लिये, पर का स्वामी बनने के लिये आपस में लड़ते हैं, वे कुत्ते ही हैं।

जब तक पर का स्वामी, पर का कर्ता, पर का भोक्ता बनता रहेगा, तब तक जीव, कुत्ते की आयु में ही है शरीर क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति'। यदि एक बार

अपनी ओर दृष्टि करे तो पर का स्वामी, पर का कर्ता, पर का भोक्ताबुद्धि का अभाव होकर, अविनाशी सुख की प्राप्ति हो जाती है। क्या मानकर? मैं जीवतत्त्व हूँ; शरीर नहीं हूँ। अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। प्रत्येक द्रव्य अपने में अन्तर्मग्न रहनेवाले अनन्त धर्मों के चक्र को समूह को स्पर्श करते हैं, तथापि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता है। सत् द्रव्य लक्षणम्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्।

— ऐसा जानते-मानते ही दुख का अभाव एवं सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो जाती है।

आगम - वस्तु का स्वभाव।

अध्यात्म - आत्मा का जो अधिकार।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 17-2-94

हितकारी सम्बोधन

यह जीव, चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है। क्यों चला जाता है? 'तीन भुवन में सार-वीतराग-विज्ञानता' — तीन लोक में उत्तम सार वस्तु एकमात्र वीतराग-विज्ञानतारूप निज शुद्धात्मा है। उसको, अर्थात् उस वीतराग-विज्ञानतारूप स्वयं को न पहचानने के कारण रखड़ता है। रखड़ना बन्द कैसे हो? जैसा केवलज्ञानी के केवलज्ञान में आया है, वैसा ही हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा। उसमें हेर-फेर करने में इन्द्र, अहमिन्द्र और जिनेन्द्र, कोई भी समर्थ नहीं है। जैनदर्शन में कहीं गप्पे नहीं हैं। चारों अनुयोगों में एकमात्र वीतरागता का ही उपदेश है।

वीतरागता किसके आश्रय से होती है? एकमात्र वीतराग-विज्ञानतारूप निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही पर्याय में वीतरागता की प्राप्ति होती है। होती क्यों नहीं? मोहरूपी शराब पीने के कारण।

यह तो मोक्षलक्ष्मी का स्वयंवर है। मुनिराज स्वयं मोक्षलक्ष्मी को वरण करने जाते हैं। वहाँ पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को अपने आँगन में बुलाते हैं। अहो, परमेष्ठी भगवन्तों! अहो, विदेह में विराजमान सीमन्धर आदि भगवन्तों! हे गणधर भगवन्तों!! आप सब वीतरागता के इस आनन्द उत्सव में पधारो... पधारो... पधारो...!! मेरी शुद्ध चैतन्यसत्ता का निर्णय करके, मैं उसमें आपको पधराता हूँ... और समस्त रागादि परभावों को पृथक् करता हूँ - ऐसे मङ्गलपूर्वक मोक्ष की साधना का यह मङ्गल स्तम्भ रोपा जा रहा है।

मङ्गल समर्पण

जिसके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है – ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

– आचार्य अमृतचन्द्र

मोहरूपी शराब क्या है ? मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं उठता-बैठता, खाता-पीता हूँ, मैं ही तो बोलता हूँ, यह मेरी पत्नि, यह मेरे बच्चे, यह मेरा मकान-इस मोहरूपी शराब के कारण चौबीस घंटे निगोद के टिकट पर हस्ताक्षर कर रहा है।

मोहरूपी शराब का अभाव कैसे हो ? एक तरफ मुझ आत्मा, दूसरी तरफ सारा विश्व, बस इतना जानते ही अनादि का नशा एक क्षण में उतर जाता है। नशा नहीं उतरा तो क्या होगा ? मानते ही नाश उतरता है; नहीं उतरा तो माना नहीं।

50-100 वर्ष का, इतने-इतने वर्षों का, सागरों का भव होता है — ऐसा तो स्थूलदृष्टि से कहने में आता है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से एक-एक समय का भव है। अत: जिस समय जीव, जैसा-जैसा भाव करता है, उस-उस समय वह वही है, उसी आयु में ही है, क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति'।

करना क्या है ? मैं तो ज्ञायक भगवान हूँ; शरीर नहीं हूँ। — यह निर्णय करना है। मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है; उठना-बैठना, खाना-पीना आदि पुद्‍गलों के कार्य से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से ही आता है; सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से ही आता है; ज्ञेयों से ज्ञान का, विषयों से सुख का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। अपना भला एकमात्र निजात्मा के आश्रय से ही होता है। देव-गुरु-शास्त्र से, शुभभाव से, शरीर की क्रिया से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णय करना है। यह निर्णय कैसे हो ? अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।

मनुष्यभव, विषयों के भोगों के लिये नहीं मिला है; सुखी होने के लिये मिला है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये मिला है। आचार्यों ने सर्व प्रथम मुनि बनने का उपदेश दिया है। मुनि न बन सके तो श्रावक का, यदि श्रावक भी नहीं तो सम्यग्दर्शन प्रगट करने का; सम्यग्दर्शन से नीचे का उपदेश जैनदर्शन में नहीं है।

आज सारा विश्व, पाप में सुख और पुण्य में धर्म मानता है — ऐसी मान्यता तो साक्षात् निगोद का कारण है। अपने में यह दोष हो तो तुरन्त उसको निकालना है। जो जिनवाणी सुनकर दूसरों के साथ लगाता है, वह जिनवाणी सुनने लायक नहीं। **अपना दोष और अपना स्वभाव सदैव दृष्टि में रखना चाहिए।**

रुपया-पैसा जो आना है, शरीर में जो रोग, बीमारी आनी है, वह आनी है; उसमें जीव की होशियारी जरा कार्यकारी नहीं है।

'सब पदारथ हैं जग माँही, भाग्यहीन नर पावत नाहीं।'

चौबीस घण्टे अशुभ में लगा होने से नारकी ही है। शरीर से सुख, पत्नि से सुख, बच्चों से सुख, रुपये -पैसे से सुख, ज्ञेयों से ज्ञान आदि, सोच-अशुभ है। अशुभभाव में निरन्तर प्रवृत्ति नारकीपने को इंगित करती है।

सुबह से शाम तक सारा कार्य पुद्गल का है, उसे अपना मानना अशुभभाव है या नहीं? तो वर्तमान में नारकी ही है क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति।' ऐसे अशुभभावों के समय यदि आयु का बन्ध हो गया तो नरक में ही जाना पड़ेगा, जहाँ निरन्तर मारकाट के अशुभभावों में ही जीवन बीतेगा। मुझे तो नरक में नहीं जाना है — तो क्या करूँ। अशुभभावों से सर्वथा भिन्न, अबन्धस्वभावी निजात्मा का आश्रय ले। कैसे ले? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा मानते ही दृष्टि, स्वभाव पर आ जाती है।

जीव पदार्थ कब से मिथ्यादृष्टि है और क्यों है? ओ हो! जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। पहले शुद्ध हो, बाद में अशुद्ध हो गया हो — ऐसा नहीं है। क्यों है मिथ्यादृष्टि? स्व-पर का श्रद्धान न होने के कारण। स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन, अर्थात् सुख? हाँ सुख ही तो है। इस सुख की प्राप्ति के लिये स्व-पर का ज्ञान आवश्यक है। क्यों आवश्यक है? यदि स्व-पर का ज्ञान न हो तो अपने को पहचाने बिना अपना दुःख कैसे दूर हो? यदि स्व-पर का ज्ञान न हो तो स्व-पर को, अर्थात आत्मा और शरीर को एक जानकर अपना दुःख दूर करने के लिये शरीर का उपचार करे तो अपना दुःख कैसे दूर हो? यदि स्व-पर का ज्ञान नहीं हो तो अपने से पर भिन्न है परन्तु यह पर में अहंकार ममकार करे तो उससे दुःख ही होता है।

तो दुःख दूर कैसे हो? बस, स्व-पर का ज्ञान होने पर ही दुःख दूर होता है। स्व-पर का ज्ञान कैसे हो? बस, मैं जीव हूँ; अजीव नहीं हूँ — ऐसा जाने-माने। जीव-अजीव से क्या मतलब? जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ। जिनमे मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व हैं। मुझ आत्मा से उनका सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — बस अपने दुःख के अभाव के लिये इतना ही जानना प्रयोजनभूत है। ऐसा जानते-मानते ही अपने प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

जीव को सम्यक्त्व कैसे हो? सम्यक्त्व क्यों नहीं होता? इसका उत्तर पूज्य पण्डित श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 250 पर दिया है कि मैं ज्ञायक

वीतरागी सन्तों के नाद से आत्मा डोल उठता है.... और स्वभाव के पन्थ में चढ़ जाता है। जैसे, अफीम के आदी व्यक्ति को 'चढ़ा-चढ़ा' कहते ही नशा चढ़ता है; इसी प्रकार जो आत्मा को साधने के लिए कटिबद्ध हुआ है, जिसे आत्मा को साधने की धगश-छटपटाहट है, उसे सन्त, आत्मा का उल्लास चढ़ाते हैं। अरे जीव! तू जाग रे जाग.... तेरे चैतन्य में अपूर्व सामर्थ्य है, उसे तू सम्हाल! तुझमें केवलज्ञान का भण्डार है। सन्तों का ऐसा नाद सुनते ही मुमुक्षु का आत्मा उल्लास से जाग जाता है और उपयोग को अन्तरोन्मुख करके वह आत्मा का अनुभव कर लेता है।

भगवान हूँ — ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना। ऐसा मानते ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, दु:ख का अभाव होता है।

सम्यक्त्व होता क्यों नहीं? मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसे व्यवहारनय के निरूपण को ही सत्य मानकर, उसी का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करने के कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। द्रव्यलिङ्गी मुनि इतना शुभभाव करता है परन्तु जिनवचनों की यथार्थ प्रतीति न होने के कारण, शरीराश्रित उपदेश व उपवासादि क्रियाओं में उपादेयबुद्धि नहीं छूटती। तो अब करना क्या? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — बस, ऐसा निर्णय करना। — ऐसा निर्णय - धर्म। धर्म क्या? जो जीव को दु:खों से निकालकर, उत्तम, अविनाशी, अक्षय-मोक्ष सुख की प्राप्ति कराये — वह धर्म है।

'शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सर्व पुद्गल द्रव्य के भाव हैं, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं।' - ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्ट कहते हैं, वे अति अपूर्वसिद्धि को पाते हैं।

- श्री पद्मप्रभमलधारिदेव

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 18-2-94

ऐसा है निज आत्मा

मेरा कल्याण एकमात्र निज त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही होता है। परपदार्थ व शुभभावों से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। मुझ आत्मा कैसा है? उत्पाद-व्यय से रहित, अनादि-अनन्त त्रिकाल एकरूप है। जिसमें प्रमत्त-अप्रमत्तदशा भी नहीं है। और कैसा है? अमूर्तिक प्रदेशों का पुँज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु, मुझ जीवद्रव्य है। और कैसा है? नियमसार, गाथा 26 में कहा है कि केवलज्ञानादि पूर्ण निर्मल क्षायिकपर्याय, मतिज्ञानादि अपूर्ण पर्याय, नर-नारकादि पर्यायों से रहित, त्रिकाल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, जिसके आश्रय से ही सकल अर्थ, अर्थात् मोक्ष की सिद्धि होती है।

अपना आश्रय हो कैसे ? मैं जीवतत्त्व हूँ। द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही जहाज के पंछी की भाँति निजात्मा दृष्टि में आ जाती है। जैसे जहाज पर बैठा पंछी इधर-उधर अन्य शरण ढूँढ़ने के लिये उड़ता है लेकिन अन्य शरण न मिलने पर, उसी जहाज पर आ कर बैठ जाता है; उसी प्रकार जब अजीव से अपना सम्बन्ध नहीं माना, उसी समय अपना आश्रय बन जाता है।

मुझ आत्मा तो तीनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं। मुझसे अनुपम वस्तु विश्व में नहीं है। जब तक परद्रव्यों को अनुपम मानता रहता है, अपना आश्रय नहीं हो सकता। अपनी आत्मा से उत्तम जो सिद्ध भगवान को मानता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। तीन लोक में उत्तम/सार वस्तु क्या है ? मुझ आत्मा ही उत्तम/सार वस्तु है। जिसका ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों के साथ तादात्मयसिद्धसम्बन्ध है — ऐसा मानते ही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, अर्थात् मोह-क्षोभरहित आत्मपरिणाम प्रगट हो जाता है।

वर्तमान में हर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय को इतना ज्ञान का उघाड़ प्रगट है कि इस कार्य को कर सकता है। असंज्ञी को यह उपदेश नहीं दिया है। यदि होनहार की बात करता है, तो सभी जगह होनहार क्यों नहीं लगाता ? खान-पानादि के लिये तो पूरा जोर मारता है, यहाँ पुरुषार्थ करना नहीं चाहता।

पुरुषार्थ क्या है ? शरीर से सर्वथा भिन्न, मैं ज्ञायक भगवान हूँ। शरीर, पति, बच्चे, घर, पैसा आदि सब पुद्गल का खेल है। मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। **जिसने आज पूज्य गुरुदेव का समागम पाकर सत्य का श्रवण किया, उसने तो अनादि अनन्त तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि को सुना है।**

दिव्यध्वनि क्या है ? भगवान के सर्वांग से जो 'ॐ' शब्द निकलता है। उसमें क्या आता है ? अरे ! आज सारे विश्व में शान्ति कैसे हो ? अरहन्तपना चाहिए, तेरे पास है; सिद्धपना चाहिए, तेरे पास है; आचार्य उपाध्याय, साधुपना चाहिए, अरे ! सब अपने पास है। बाहर से सुख का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। अरे ! भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति होती है। '**निश्चय नयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करें निर्वाण की**' तथा '**भूतार्थ आश्रित आत्मा सुदृष्टि निश्चय होय है।**'

इस देह में रहता हुआ मुझ अनन्त-गुणों का अभेदपिण्ड आत्मा, इस देह

अहो ! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष को साध रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा ही मोक्ष सधता है। दिगम्बर साधु, अर्थात् साक्षात् मोक्ष का मार्ग.... वे तो छोटे सिद्ध हैं.... अन्तर के चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनियों की महिमा की क्या बात ! ऐसे मुनि का दर्शन प्राप्त होना भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं ! हम उनके चरणों में नमते हैं.... धन्य वह मुनिदशा ! हम भी उसकी भावना भाते हैं।

मङ्गल समर्पण

को स्पर्श नहीं करता। प्रत्येक भगवान आत्मा, उत्पाद-व्ययरहित, बन्ध-मोक्षरहित, बन्ध-मोक्ष के कारण से रहित है। मुझ आत्मा मरता नहीं, जन्मता नहीं। एकेन्द्रिय पर्याय हो, सिद्धपर्याय हो — मुझ आत्मा तो त्रिकाल ज्ञानानन्दरूप ही रहता है। निजज्ञानानन्द का आश्रय कैसे हो? जितना रूपी पदार्थ दिखता है, उसके साथ मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

सकल, निरावरण, अखण्ड, एक, शुद्ध, परमपारिणामिकभाव मैं हूँ। उसको लक्ष्य में लेनेवाली पर्याय भी उसमें नहीं है। छहढ़ाला में भी कहा है कि मुझ आत्मा तो त्रिकाल एकरूप जीवतत्त्व है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मापने का उसमें सर्वथा प्रवेश ही नहीं है। इसका लक्ष्य क्यों नहीं होता? व्यापार करते हैं, नुकसान होता रहे, फायदा न हो, तो भी क्या व्यापार करते चले जाते हैं? विचार तो करते हैं। अब मनुष्यभव मिला, जैनकुल, दिगम्बरधर्म, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिला, तत्त्व का अभ्यास भी किया; अब विचार तो करना चाहिए कि शान्ति क्यों नहीं आती? इसका एकमात्र कारण है- शरीर को अपना माना, अजीवतत्त्व को अपना माना; इसलिए अपना भान नहीं होता, शान्ति नहीं आती।

अब करना क्या? '**चेतन को हैं उपयोगरूप, बिन्मूरत चिन्मूरत अनूप; पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल इनतैं न्यारी हैं जीव चाल**' — ऐसा मानते ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। यदि अभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुयी तो संसार परिभ्रमण का अन्त आयेगा।

मुझ आत्मा एक है, शुद्ध है, ममतारहित है, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण है, अचल है, निरालम्ब है, अतीन्द्रिय महापदार्थ है। उसका एक बार लक्ष्य होते ही दृष्टि चौबीस घंटे उसी पर रहती है; एक समय भी यदि दृष्टि, स्वभाव पर से हट जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। अरे! लौकिक में भी जितने ऊँचे पद है, सब सम्यग्दृष्टि के लिये रिजर्व हैं। यह कार्य मुश्किल नहीं है। केवलज्ञान तो खेलरूप है, सिद्ध भगवान बनना तो खेलरूप है। जिसे कष्टदायक प्रतीत होता है, उसका जैनदर्शन में प्रवेश नहीं है। अज्ञानी की दृष्टि, संयोगों पर ही रहती है; अतः रोता-पीटता हुआ निगोद में चला जाता है।

चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है - ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है; इस चिंत्शक्ति से शून्य जो ये भाव (गुणस्थानादि) हैं, वे सब पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल के ही हैं।

– **आचार्य अमृतचन्द्र**

दिनाँक 22-2-94

इतना मानते ही धर्म.......

एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य में सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जो सम्बन्ध मानता है, वह जैन नहीं है; सर्वज्ञ के मत से बाहर है। पुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा 14 में कहा है — जिसको शरीर व राग अपना भासता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जब शरीर को अपना माना चौबीस, घंटे दुःखी-दुःखी-दुःखी, क्योंकि शरीर को अपना मानते ही अभिप्राय में सारी दुनिया को अपना मान लिया। करोड़ों खून करने से भी बड़ा पाप, शरीर को अपना मानना है।

करना क्या ? शरीर से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। क्यों नहीं है ? अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। यह वस्तुस्वरूप है — पदार्थों का स्वरूप है। अब जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जाये।

जीव, अपनी सत्ता में कायम रहते हुये बदल रहा है । इसी प्रकार शरीर के अनन्त पुद्गल परमाणु अपनी-अपनी सत्ता में रहते हुए अपने-अपनेरूप परिणमित हो रहे हैं। ऐसी भिन्नता का जिसे भान नहीं है, वह चौबीस घण्टे दुःखी है, जैन नहीं है। सिर पर अंगीठी जल रही है, उधर केवलज्ञान की तैयारी। ज्ञानी की संयोगों पर दृष्टि नहीं; संयोगों से सुख-दुख का सम्बन्ध नहीं — ऐसा जानते हैं। अज्ञानी की दृष्टि, संयोगों पर ही रहती है। संयोगों से सुख-दुःख होना मानते हैं; इसीलिए निरन्तर आकुलित रहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य, अनादि-निधन है। अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर अपना-अपना कार्य करता हुआ बदल रहा है। अन्दर भी कुछ नहीं कर सकते और बाहर भी कुछ नहीं कर सकते — ऐसा मानते ही सुखी। यह बात अनादि से तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि में आयी है, गणधरों ने इस सत्य को उजागर किया। जिसने यह बात हृदय में उतार ली, वह सादि-अनन्त सुखी हो गया।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। सत्ता कितनी ? अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायें। प्रत्येक

जिसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा व रुचि होती है, उसकी पर्याय शुद्ध होती है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो ज्ञानस्वभावी द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है, किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है। रुचि के अनुसार, पर्याय होती है।

द्रव्य की अपनी-अपनी पृथक सत्ता है। एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। मुझ आत्मा और शरीर की तो जाति बिरादरी बिल्कुल भिन्न है। फिर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? मुझ आत्मा चैतन्य; शरीर जड़; मुझ आत्मा असंख्यात-प्रदेशी; शरीर के अनन्त परमाणु एक-एक प्रदेशी; मैं अरूपी, शरीर रूपी; मेरा एक आकार, शरीर के अनन्त आकार — दोनों सर्वथा भिन्न हैं। रूपी पदार्थ को अपना-मानता है, उसका ग्रहण-त्याग करना चाहता है; इसलिए दु:खी होता है। क्योंकि परद्रव्य, जीव का होता नहीं। उसका ग्रहण-त्याग, जीव कर सकता नहीं क्योंकि दोनों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा भिन्न हैं। जीव, एक मानता है, यह भ्रम है। भ्रम ही दु:ख है। इस भ्रम से उत्पन्न दु:ख दूर कैसे हो? भ्रम दूर होते ही दु:ख का अभाव। भ्रम क्या है? मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं शरीर के कार्य करता हूँ। करना क्या? मैं त्रिकाल एकरूप भगवान आत्मा हूँ। मैं अकेला हूँ। संसार में भी जीव अकेला है, मोक्ष में भी अकेला है। अब यदि दु:ख का अभाव करना हो तो यह समझना पड़ेगा, वरना जीव अनादि से चारों गतियों में रखड़ता रहा है, आगे भी रखड़ना पड़ेगा।

शरीर में सुख नहीं, दु:ख नहीं; शरीर से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। आचार्य भगवान करुणा करके समझाते हैं अरे तू तो भगवान आत्मा है, ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त-गुणों का पिण्ड है। 33-33 सागर की अनन्त सर्वाथसिद्धि पूरी हो जायें, परन्तु आत्मा का खजाना पूरा नहीं होगा। ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव के कारण किंचित् जानना-देखना होता है। जानना-अपना स्वभाव है, उस ज्ञान में पर पदार्थ निमित्त पड़ते हैं; अपना पता न होने से, उनमें अपनापना मानकर, किसी पदार्थ को अच्छा, किसी पदार्थ को बुरा जानकर, मिलाने -हटाने के अभिप्राय से निरन्तर दु:खी रहता है। यदि केवल जानने-देखनेवाला ही बना रहे तो दु:ख का अभाव हो जाये। यदि परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट होते और वहाँ राग-द्वेष करता तो मिथ्या नाम न पाता परन्तु पदार्थ, इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं परन्तु अज्ञानी, इष्ट-अनिष्ट मानकर, राग-द्वेष करता है; अत: इसी परिणमन को मिथ्या कहा है।

ऐसी मिथ्याबुद्धि का अभाव हो कैसे? कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं। सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। उसी समय पता चल जाता है — ''मैं भ्रम्यो अपनको विसरि आप, अपनाये विधिफल पुण्य पाप। निज को पर को करता पिछान, पर में इष्ट अनिष्टता ठान।'' अब समझना क्या? मैं

जिस प्रकार घास, लकड़ी, बांस अथवा जंगल के अनेक ईंधनादि, अग्नि में जलते हैं, उनके आकार पर ध्यान देने से अग्नि अनेकरूप में दिखायी देती है, परन्तु यदि मात्र दाहकस्वभाव पर दृष्टि डाली जाये तो सर्वाग्नि एकरूप ही है; उसी प्रकार जीव (व्यवहारनय से) नव तत्त्वों में शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेकरूप हो रहा है; परन्तु जब उसकी चैतन्यशक्ति पर विचार करें, तब वह अरूपी और अभेदरूप जानने में आता है।

- श्री बनारसीदास

ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ। अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। पुद्‌गल की 27 पर्यायों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, ये तो रूपीपदार्थ हैं। मुझ आत्मा अरूपी। आत्मा के गुण अरूपी, उसकी विकारी व अविकारी पर्याय, अरूपी-फिर रूपीपदार्थ से सम्बन्ध हो कैसे? ऐसा मानते ही मिथ्यात्व का अभाव, सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ, किन्तु किसी का कुछ नहीं करता - ऐसी मान्यता के द्वारा जीव, मिथ्यात्व का नाश करके, पर से हटकर अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; समस्त पदार्थों की समय-समय पर क्रमनियमित अवस्था होती है, वही होता है।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 23-2-94

एक बार विश्वास तो कर!

हे भव्य जीवों! जागो! जागो! इस शरीर से तुम्हारा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। विश्व का कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। तू व्यर्थ में अपनी मिथ्या मान्यता से पागल बन रहा है। इस भ्रम को तोड़! तोड़! तोड़! निज आत्मा ही से नाता जोड़! परज्ञेयों से तू आज तक स्पर्शित नहीं हुआ। सब पदार्थ अपने-अपने कारण आते हैं, अपने-अपने कारण चले जाते हैं। इनमें हेर-फेर करने के लिये भगवान भी तीन काल में समर्थ नहीं हैं। तू परद्रव्यों का दोष देखता है, यह तेरा ही दोष है। परद्रव्य तो कुछ कहता नहीं, तुझमें कुछ करता नहीं, तेरा स्पर्श करता नहीं। ऐसा मानेगा तो शुद्धभावरूप परिणमन होगा। जब अशुद्धता से भिन्न निज स्वभाव को देखेगा, तभी सुखरूप परिणमित होगा।

अत: हे भव्य! दोषी तू ही है, पर ने दोष उत्पन्न नहीं कराया। अपने ही पुरुषार्थ से संसार का अभाव होगा। सारे शास्त्रों का सार मात्र इतना है कि तू जीवतत्त्व है; अजीवतत्त्व नहीं। देव-गुरु-शास्त्र का विश्वास तो कर। इस पञ्चम काल में यह मौका आया है, सर्व प्रकार से अवसर आया है। श्री गुरु, दयालु होकर संसार से निकलने का उपाय बता रहे हैं। हे! भव्य जीव इसमें प्रवृत्ति करना ही योग्य है। अब, प्राप्त सर्व प्रकार से अनुकूल अवसर यदि खो दिया तो फिर यह मौका नहीं मिलेगा। चारों गतियों के धक्के खाने पड़ेंगे।

दिनाँक 24-2-94

दिव्यध्वनि का सार

जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं, हो रहे हैं, या होंगे; उनकी दिव्यध्वनि खिरती है और 24 घंटे में 9.00 घंटे और 36मिनट सर्वांग से 'ॐ' आता है। इसका तात्पर्य क्या है? विश्व के प्राणी सुखी कैसे हों; दु:ख का अभाव कैसे हो? उस दिव्यध्वनि का तीर्थङ्कर भगवान से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

'ॐ' का अर्थ क्या? अरहन्तपद, सिद्धपद, आचार्य, उपाध्याय और साधुपद, सब अपनी आत्मा के आश्रय से ही होता है। कारणशुद्धपर्याय का अर्थ भी यही है, कि जैसे अपने घर में माल दबा पड़ा है, मालूम नहीं तो हुआ न हुआ एक समान है, जब पता चला, तब माल है; उसी प्रकार अनन्त गुणों का धारी भगवान आत्मा त्रिकाल मौजूद है, जिस समय उसका आश्रय हुआ तो अपना खजाना प्रगट हुआ। प्रगट होता क्यों नहीं? शरीर व अत्यन्त भिन्न-पदार्थों में पागल है। एक समय के लिये भी यदि शरीर को सर्वथा भिन्न माने..... क्या जानकर? मैं साक्षात् परमात्मा हूँ, अकृत्रिम जिन चैत्यालय हूँ। निज भगवान प्रगट होता क्यों नहीं? जानना-देखना अपना स्वभाव है, अपनी ज्ञान की पर्याय हर समय हो रही है, उस ज्ञान की पर्याय में परद्रव्य निमित्त पड़ते हैं; अपना पता न होने के कारण जो पदार्थ, ज्ञान में निमित्त पड़ते हैं, उन्हें अपना जानकर उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानकर, निरन्तर दु:खी रहता है। जब तक अजीवतत्त्व को अपना मानेगा, तब तक शान्ति नहीं आयेगी। अपना पता नहीं चलेगा, पागल बना चारों गतियों में रखड़ता रहेगा।

अजीवतत्त्व से भिन्न अपने को पहचाने न और व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तपादि खूब करें, वह जीव अभव्य है—अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जिसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसे देव-गुरु-शास्त्र का राग होता है; करना नहीं पड़ता। जिसको देशचारित्र प्रगट होता है, उसको 12 अणुव्रतादि का राग होता है; करना नहीं पड़ता। अन्तर में निजात्मा के आश्रय से शुद्धि तो प्रगट हुयी नहीं और देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करे, 12 अणुव्रतादि का पालन करे, वह तो निगोद का ही पात्र है; धर्म की गन्ध भी नहीं आ सकती।

मङ्गल समर्पण

'मैं अकेला हूँ' - इस प्रकार की बुद्धि से अद्वैत तथा 'मैं कर्म संयुक्त हूँ' - इस प्रकार की बुद्धि से द्वैत होता है। इन दोनों में से प्रथम विकल्प (अद्वैत) अविनश्वर मुक्ति का कारण और द्वितीय विकल्प (द्वैत) केवल संसार का कारण है।

- आचार्य पद्मनन्दि

धर्म की प्राप्ति कैसे हो ? अपने को आपरूप जानकर, अपना अंश, पर में न मिलाये और पर का अंश, अपने में न मिलावे क्योंकि दोनों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा पृथक-पृथक हैं। आचार्य भगवान कहते हैं कि मैंने ऐसा जाना है तुम्हें यदि सुखी होना है तो यह जानो कि मुझ आत्मा ही अरहन्त हैं, मुझ आत्मा ही सिद्ध है। पर्याय में शान्ति कैसे हो ? पर्याय में जिनपना कैसे प्रगट हो ? अजीवतत्त्व से भिन्न स्वयं को जानते ही सुखी हो गया, जिन बन गया। जैसे-जैसे अपने स्वभाव में स्थिर होता जाता है, क्रम से जिनेन्द्रपद को प्राप्त करता है।

'जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे' भगवान के केवलज्ञान में जैसा आया है, वैसा ही नियम से हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा — इस प्रकार निमित्तरूप केवलज्ञानी को मानते ही पर का कर्ता-भोक्तापना छूट जाता है; अकर्तास्वभाव प्रगट हो जाता है। केवलज्ञानी को माने या वस्तुस्वरूप को माने — एक ही बात है। वस्तुस्वरूप क्या है ? अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न, अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है। — ऐसा वस्तुस्वरूप है। इसी कारण प्रत्येक द्रव्य, अपने अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, प्रति समय एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायें इतनी-इतनी प्रत्येक द्रव्य की सत्ता है। कोई भी द्रव्य अपनी सत्ता से बाहर आज तक न निकला है, न निकलता है, न निकल सकेगा। जितने जीव हैं, अनादि-अनन्त उतने ही रहते हैं; पुद्गल भी जितने हैं, अनादि-अनन्त उतने ही रहते हैं और रहेंगे — जिसने ऐसा वस्तुस्वरूप माना, उसको आत्मसाक्षात्कार हो गया। यह मनुष्यभव व्यापार करने, घर सम्भालने, बाल-बच्चों के पोषण आदि के लिये नहीं मिला है, आत्मा यह कार्य करता ही नहीं है, कर सकता नहीं है।

प्रत्येक जीव, त्रिकाल एक प्रकार हैं, पर्याय में अन्तर हैं। जो शरीर को अपना मानता है, वह बहिरात्मा है। यह बहिरात्मा चौबीस घंटे महादुःखी, हाय-हाय में ही जीवन व्यतीत करता है। शरीर से भिन्न, मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसा मानते ही अन्तरात्मा बन गया, सुखी हो गया, मोक्षमार्ग प्रगट हो गया। अब रास्ता हाथ में आ गया। जिसकी दृष्टि, ज्ञातास्वभाव पर आयी, उसी ने भगवान को माना। सारे शास्त्रों का मर्म उसके हाथ में आ गया। आत्मा के आश्रय से शुद्धि प्रगट हुयी, वही पूजा है, स्तुति है, प्रतिक्रमण है, स्वाध्याय है। इसके अलावा और कोई उपाय न हुआ है, न है और न होगा। अतः करना क्या ?

'अहो! केवली भगवान, तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता हैं, वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं, किन्तु किसी का कुछ नहीं करते, ऐसा जिसने स्वीकारा, उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप में जान लिया और उसको तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्तत्वबुद्धि दूर हो गयी है, अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। स्वभाव का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं है किन्तु सम्यक् पुरुषार्थवाद है, सर्वज्ञवाद है।

तातें जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे॥

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा तत्त्व का अभ्यास क्या? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — बस इतना।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग द्वन्द-फन्द, निज आतम ध्यावो॥

नमः समयसाराय क्या है? द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से सर्वथा भिन्न, निज आत्मा का आश्रय ही नमस्कार है। ऐसा नमस्कार तो करे ना और जय भगवान, जय-भगवान करता रहे, धर्म की गन्ध भी नहीं आ सकती। कारणशुद्धपर्याय, अर्थात् जिस समय आत्मा, दृष्टि में आया, उस समय का त्रिकाली स्वभाव। वो कैसा है? चित्स्वभावाय भावाय = भावाय, अर्थात् शुद्ध सत्तारूप वस्तु है; चित्स्वभावाय = अर्थात् ज्ञान-दर्शन आदिअनन्त असाधारणगुणों का धारी है। उनका पता क्यों नहीं चलता? अजीवतत्त्व को अपना मानने के कारण। जैसे ही अजीवतत्त्व से भिन्न अपने को जाना, उसी समय स्वानुभूत्या चकासते, अर्थात् संवर-निर्जरा की प्राप्ति होकर, क्रम से सर्वभावान्तरच्छिदे, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह तो देव की बात हुयी।

दूसरे कलश में कहते हैं —निजात्मा ही जिनवाणी है। सरस्वती की मूर्ति क्या है? — सर्व प्रथम केवलज्ञान, फिर भावश्रुतज्ञान, ज्ञानी का विकल्प, ज्ञानी की वाणी और फिर शास्त्र। केवलज्ञान और भावश्रुतज्ञान ही सरस्वती ही सत्यार्थ मूर्ति है। केवलज्ञान और भावश्रुतज्ञान में मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का अन्तर है।

संक्षेप में अपना आश्रय क्यों नहीं होता? अज्ञान के कारण, स्वयं ज्ञायक है, जानने-देखने का स्वभाव है। ज्ञेयों को और स्वयं को एक मानने के कारण ही अनादि से दु:खी है। जब तक ऐसी मान्यता रहेगी, दु:खी ही रहेगा। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञेयों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — इतना ही दिव्यध्वनि का सार है।

जो वर्णादिक अथवा राग-द्वेष-मोहादिक कहे हैं, वे सब इस आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए अन्तर्दृष्टि द्वारा देखनेवाले को यह सब दिखायी नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है, केवल एक चैतन्य भावरूपरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखायी देता है।

– आचार्य अमृतचन्द्र

दिनाँक 28-2-94

क्या कहते हैं जिनदेव ?

शास्त्र आदि कुछ जानते नहीं, क्योंकि पुद्‌गल की अचेतन 27 पर्यायों से ज्ञान, पृथक हैं। जब तक द्रव्यकर्म, नोकर्म पर जरा भी दृष्टि रहेगी, तब तक अपना आश्रय नहीं होगा। —ऐसा जिनेदव कहते हैं।

अनादि-अनन्त त्रिकाल एकरूप निजात्मा के आश्रय से ही धर्म होगा। खोटी रीति से शास्त्र पढ़ा तो देव-गुरु-शास्त्र मेरा भला करेंगे —ऐसा मानकर यह जीव, गृहीतमिथ्यात्व की पुष्टि कर लेता है।

मिथ्यात्व का अभाव कैसे हो ?

1. एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, हानि-लाभ नहीं कर सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, किसी का उपकार-अपकार नहीं कर सकता — ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता ख्याल में आये तो चारों गतियों का अभाव हो जाता है।
2. मुझ आत्मा के धर्म का अचेतन शास्त्र, शब्द, गुरु का वचन, दिव्यध्वनि के साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं है – ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।
3. किसी भी प्रकार के आकार के साथ मुझ आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।
4. रूपी, काला-पीला-नीला-लाल वर्ण के साथ मुझ अवर्णस्वभावी आत्मा के ज्ञान का, सुख का व धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।
5. खट्टा-मीठा आदि रस के साथ, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि गन्ध के साथ, हल्का-भारी आदि स्पर्श के साथ, मुझ अरस, अगन्ध व अस्पर्शस्वभावी आत्मा के ज्ञान, सुख व धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।
6. धर्म-अधर्म-आकाश-काल के साथ, मुझ आत्मा के चलने-ठहरने, जगह देने व परिणमन का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।

वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती है। वस्तु की जो अवस्था होती है, उस अवस्था के लिए अनुकूल निमित्तरूप परवस्तु स्वयं उपस्थित रहती है। आत्मा की क्रमबद्धपर्याय की जो योग्यता होती हो, उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय रुक जाएगी – ऐसी बात नहीं है। यह प्रश्न ही नहीं रहता कि यदि निमित्त नहीं आयेगा तो पर्याय कैसे होगी ? उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले को यह प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तु में अपने क्रम से जब जो अवस्था होती है, तब उसका निमित्त भी होता ही है – ऐसा नियम है।

मङ्गल समर्पण

7. कर्म के उदय आदि के साथ, मुझ अरूपी आत्मा के ज्ञान, सुख व धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है – ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।

क्यों नहीं है ? क्योंकि मुझ आत्मा, चेतन है; ये सब, अचेतन हैं। मैं तो ज्ञायक हूँ, विश्व के सभी पदार्थ व्यवहार से मेरे ज्ञान का ज्ञेय हैं। मुझ आत्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं — इनसे मेरा किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। मुझ आत्मा तो ज्ञायक है —इसमें से छह बोल निकलते हैं।

1- ज्ञान, अरूपी है।

2- ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र, विघ्न नहीं कर सकता।

3- ज्ञान, अविकारी है।

4- ज्ञान, चैतन्य चमत्कारस्वरूप है।

5- ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता है, व

6- ज्ञान, सर्व समाधानकारक है।

अपनी महिमा के यदि उपरोक्त छह बोल समझ में आ जावें, तो ऐसा क्योंकि; यह हो, यह न हो; इससे यह, आदि प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होंगे और शान्ति की प्राप्ति हो जाएगी।

ज्ञान, अरूपी है — मैं क्या कहना चाहते हैं कि रूपीपदार्थ से मुझ ज्ञायक भगवान का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। सुबह से शाम तक खाना-पीना, उठना-बैठना, लड़ना-मरना, बाल-बच्चे, स्त्री, रुपया-पैसा मकान, आदि सारा कार्य सर्वथा पुद्गलद्रव्य का है। इन रूपी कार्यों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। रूपी-पदार्थों को अपना मान-मान कर ही चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है। 'धन-समाज गज बाज राज को काज न आवे, ज्ञान आपको रूप भये फिर अचल रहावे।'

इसलिए, पुण्य-पाप फल माँहि, हरख बिलखौ मत भाई; यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै थिर नाँहि।

— ऐसा मानते ही मोक्षमार्ग की शुरुआत हो जाती है। मुझ आत्मा अरूपी, उसके गुण अरूपी, विकारी-अविकारीपर्याय भी अरूपी। मुझ अरूपी आत्मा के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है। क्या रूपी शास्त्र,

मङ्गल समर्पण

जिस प्रकार दर्पण में मयूर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह वास्तविक मयूर नहीं है, यदि वह वास्तविक हो तब तो प्रत्यक्ष मयूर के समान प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु दर्पण में वह प्रत्यक्ष नहीं होता, मात्र उसका प्रतिबिम्ब ही जानने में आता है। उसी प्रकार जीवादि नवतत्त्व, जीव की नौ अवस्थाएँ हैं परन्तु वे वास्तविक, त्रैकालिक जीवस्वरूप नहीं हैं, शुद्ध जीवद्रव्य नहीं हैं।

– श्री राजमल्ल

दिव्यध्वनि, गुरु के शब्द से हमें ज्ञान होता है? सर्वथा नहीं। शास्त्र, आहारवर्गणा का, दिव्यध्वनि व गुरु का शब्द आदि भाषावर्गणा का कार्य है। जिनमें स्वयं ज्ञान नहीं है; वे मुझे ज्ञान दें — ऐसा तो त्रिकाल में सम्भव ही नहीं है।

तब क्या करना? ज्ञान मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है; शास्त्र, दिव्यध्वनि व गुरु के शब्दों से ज्ञान का सम्बन्ध सर्वथा नहीं है। पाँच इन्द्रिय के विषयों से सुख का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। अरे! कर्ता-कर्मसम्बन्ध एक द्रव्य का, उसकी पर्याय में ही होता है; दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं होता। अज्ञानी को एक कार्य, दो द्रव्यों से हुआ दिखता है; यह भ्रम है। इस भ्रम के अभाव का उपाय, भ्रम दूर करना ही है।

करना क्या? जहाँ दो द्रव्यों को मिलाकर कथन किया हो, अर्थात् व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान हो, उसे 'ऐसा है नहीं, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा यह उपचार किया है' — ऐसा जानना। ऐसा जानते ही भ्रम का अभाव हो जाता है। जो ज्ञेयों से ज्ञान, पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख, दर्शनमोह के उपशम से सम्यग्दर्शनादि मानता है, वह जिनवाणी सुनने लायक नहीं है, वह पद-पद पर धोखा खाता है, यह उसका अज्ञान मोह अन्धकार है, उनका सुलटना दुर्निवार है। ***(समयसार गाथा 390 से 404 का सार)***

ज्ञान अरूपी है, अर्थात् पुदगल की 27 पर्यायों से मुझ आत्मा का, सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। अभी तो मानसिक ज्ञान भी ठीक नहीं। क्योंकि 'मैं उठा', तो उठा तो शरीररूप आहारवर्गणा, माना 'मैं उठा' तो क्या जाना? ज्ञान, अरूपी है — ऐसा माना तो उठनेरूप शरीर के कार्यों को अपना क्यों माने? मैंने आँख से ज्ञान किया — अरे! ज्ञान तो मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आया; माना आँख से, अर्थात् जड़ से जहाँ कि ज्ञान नाम का गुण या पर्याय भी नहीं। पग-पग पर, पर्याय-पर्याय में जीव को अजीव और अजीव को जीव मानता है। तो ज्ञान, अरूपी है, यह कहाँ माना। पाँच इन्द्रियाँ जड़ हैं, रूपी हैं, सुख मुझ आत्मा में है —माना कि मुझे पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है तो ज्ञान अरूपी है कहाँ माना? ऐसी विपरीत मान्यता के कारण ही चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

यदि एक बार जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का विश्वास हो तो ज्ञान, अरूपी है, इसकी श्रद्धा हो। जैसे कोरा घड़ा है, पानी की बूँद पड़ते ही चूस लेता है; उसी प्रकार गुरु ने कहा —तू जीवतत्त्व है, अरूपी है; रूपी पुद्गल से तेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —ऐसा सुनते ही दृष्टि, स्वभाव पर आनी चाहिए।

जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो, वहाँ निमित्त भी होता ही है। जिस समय उपादान कार्यरूप में परिणत होता है, उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित रहती है - ऐसा होने पर भी निमित्त, उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो; और निमित्त से कार्य हो - ऐसा भी नहीं हो सकता।

मङ्गल समर्पण

प्रगटरूप से सदाशिवमय (निरन्तर कल्याणमय) ऐसे परमात्मतत्त्व में ध्यानावली होना ही शुद्धनय नहीं कहता। 'वह है (अर्थात् ध्यानावली आत्मा में है)' ऐसा (मात्र) व्यवहारमार्ग में सतत् कहा है। हे जिनेन्द्र! ऐसा वह तत्त्व / तूने नय द्वारा कहा हुआ वस्तु स्वरूप, अहो! महा इन्द्रजाल है।

– श्री पद्मप्रभमलधारिदेव

बोलना भाववर्गणा का कार्य है, पुद्गल का है, माना 'मैं बोला', तो ज्ञान अरूपी है, ऐसा कहाँ माना? रुपया पुद्गल है, रूपी है; मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। — माना रुपये से मैं सुखी –तो ज्ञान अरूपी है — कहाँ माना?

कैलाशचन्द्र तो जड़ है, पुद्गल है, रूपी है; मुझ अरूपी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। माना मैं कैलाशचन्द्र हूँ, तो ज्ञान अरूपी है — कहाँ माना?

खाना बनना तो पुद्गल का कार्य है, रूपी है, मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —माना कि मैंने खाना बनाया तो ज्ञान अरूपी है, कहाँ माना? रोटी खाना तो रोटीरूप अहारवर्गणा से हुआ, मुझ अरूपी आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —माना कि मैंने खाना खाया, तो ज्ञान अरूपी है — कहाँ माना? पुत्र-पुत्री तो सर्वथा रूपी पुद्गल का, आहारवर्गणा का कार्य है; मुझ अरूपी आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —माना कि मेरी पुत्र, मेरा पुत्रियाँ, तो ज्ञान अरूपी है —कहाँ माना?

मकान तो सर्वथा आहारवर्गणा का कार्य है, रूपी पुद्गल का है; मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है और माना कि मेरा मकान- तो ज्ञान अरूपी है —कहाँ माना?

ज्ञान अरूपी है —ऐसा निर्णय कैसे हो?

मुझ आत्मा के अलावा विश्व में अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक है और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं लेकिन मुझ आत्मा से इन सर्व पदार्थों का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व है, वह मैं हूँ। जिनमें मेरा ज्ञान -दर्शन नहीं हैं,वे अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है।

जिस जीव को तुरन्त धर्म की प्राप्ति करनी हो, वह क्या करें? संसार समुद्र से पार होना हो, वह क्या करें? जिसमें स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण पाया जाये, वह पुद्गल है। पुद्गल की 27 पर्यायें हैं। उनमें से कहीं भी एक पर्याय भी पायी जाये, वह मैं नहीं हूँ; पुद्गल है। पुद्गल रूपी है, मुझ अरूपी आत्मा के ज्ञान व सुख का परद्रव्यों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। यह बात अब तक पहले बोल में सिद्ध की है।

'**ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र विघ्न नहीं कर सकता।**' यह दूसरा बोल है। वर्तमान में विदेहक्षेत्र है, वहाँ चौथा काल है, वहाँ से जीव वर्तमान में भी मोक्ष

जाते हैं; लेकिन यहाँ भरतक्षेत्र है, वर्तमान में पञ्चम काल है; अत: यहाँ से जीव, मोक्ष कहाँ जाते हैं ? अत: आपकी यह बात कि ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र विघ्न नहीं कर सकता —यह बात तो झूठ लगती है। लेकिन भाई! ऐसा नहीं है। जम्बूस्वामी आदि इस भरतक्षेत्र से पञ्चम काल में ही मोक्ष गये हैं। यह बात तो कहने में इसलिए आती है क्योंकि पञ्चम काल के पापी जीव इतना पुरुषार्थ नहीं कर सकते कि मोक्ष प्राप्त कर सकें। अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए क्या तुम कभी विदेहक्षेत्र में थे या नहीं ? तो तुमको मोक्ष क्यों नहीं हुआ ? विदेहक्षेत्र से भी जो जीव, मोक्ष गये हैं, वे अपनी पात्रता के कारण गये हैं।

पात्रता क्या ? वस्तुस्वरूप का निर्णय कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय का स्पर्श करता है; सामान्य में से विशेष आता है; निज आत्मा के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है। धर्म की प्राप्ति के लिये किसी अन्य साधन की, काल या क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। जिस काल में, जिस क्षेत्र में भी जीव, स्व-पर का यथार्थरूप श्रद्धान करता है, वह उसी समय मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष के लिये इस पुरुषार्थ की आवश्यकता है; चौथा काल और विदेहक्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। तीव्र पुरुषार्थ ना करने की अपेक्षा से, पञ्चम काल में मोक्ष नहीं होता — ऐसा कहा है लेकिन दृष्टिमोक्ष तो जीव कहीं भी, कभी भी कर सकता है।

मोक्ष, पाँच प्रकार का है — शक्तिरूपमोक्ष, दृष्टिमोक्ष, मोहमुक्तमोक्ष, जीवनमुक्तमोक्ष, और विदेहमोक्ष। शक्तिरूपमोक्ष तो अनादि-अनन्त प्रत्येक जीव है ही। जो स्वयं को अजीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न जानता है, उसी समय दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। निजशक्तिरूप मोक्ष में जैसे-जैसे स्थिरता करता जाता है, मोहमुक्तमोक्ष, व जीवनमुक्तमोक्ष की प्राप्ति होकर, फिर-विदेहमोक्ष की प्राप्ति होती है।

मुझ आत्मा, चैतन्य और शरीर जड़ है, बस-मोक्षमार्ग व मोक्ष के लिये इतना ही जानना प्रयोजनभूत है; इससे ज्यादा जानकारी की आवश्यकता नहीं है। दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति होते ही सारा जैनशासन उसके हाथ में आ जाता है। दृष्टिमोक्ष आदि की प्राप्ति के लिये किसी की सेवा, उपासना या व्रत-उपवास की आवश्यकता नहीं; एकमात्र मैं जीवतत्त्व हूँ —इतना समझने की आवश्यकता है। द्रव्यानुयोग का अभ्यास भी मात्र इतना ही है कि मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं

चेतन अथवा जड़द्रव्य में उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था, जब होनी होती है, तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं - ऐसा स्वाधीन दृष्टि का विषय है, उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है। मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती; इसलिए उनकी दृष्टि निमित्त पर ही रहती है।

हूँ। जिस समय अजीवतत्त्व से भिन्न निज जीवतत्त्व को पहचाना, उसी समय दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, उससे मोक्ष होता ही होता है। जीव, सातवें नरक में हो, तिर्यंच में हो, देव में हों या मनुष्य में हो, राजा हो या रंक हो, पहले काल में हों या चौथे काल में हो, पञ्चम काल में हो, कहीं भी हो — जिस समय ऐसा माना कि मैं जीव हूँ; अजीव नहीं, उसी समय मोक्ष, अर्थात् दृष्टिमोक्ष होता ही होता है; अत: सिद्ध हुआ कि 'ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र विघ्न नहीं कर सकता।'

मङ्गल समर्पण

जिस प्रकार कीचड़ और जल दोनों एकमेक होने जैसे मालूम पड़ते हैं परन्तु शुद्ध जल की तरफ ही लक्ष्य करने पर कीचड़ लक्ष्यगत होता नहीं, कारण कि वास्तव में जल, कीचड़ से भिन्न है, उसी प्रकार जीव भी नव तत्त्वों में एकमेक जैसा मालूम पड़ता है, परन्तु शुद्धजीव इन नवतत्त्वों से वास्तव में भिन्न है।

– श्री राजमल्ल

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 3-3-94

ज्ञान अविकारी है

ज्ञान अविकारी है —मुझ भगवान आत्मा में विकार का प्रवेश ही नहीं है। विकार मुझ आत्मस्वभाव में नहीं है। विकार उत्पन्न क्यों होते हैं ? निज भगवान आत्मा को भूलकर, शरीर आदि परपदार्थों को अपना माना तो आस्रवतत्त्व उत्पन्न होता है। जिस समय जाना कि मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सम्बन्ध नहीं है, उसी समय आस्रवतत्त्व भागने शुरु हो जाते हैं और क्रम से मोक्षतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। यही बात समयसार, गाथा 72 में कही है।

1- आस्रवभाव-अशुचि, अपवित्र और घिनावने हैं; और निज भगवान शुचि, पवित्र, उज्ज्वल है —ऐसा आस्रव और आत्मा के भेद को जानते ही मिथ्यात्व का अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्य को शिष्य के प्रति करुणा है; अत: उसकी परीक्षा करते हैं कि इसे मिथ्यात्व का अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति हुयी है या नहीं ? पूछते हैं — कि हमने जो आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान बताया, वह ज्ञान है या अज्ञान ? शिष्य कहता है कि अज्ञान ! तो आस्रव और आत्मा के लक्षण बतलाकर भेदज्ञान बताया, इससे कोई फायदा ही नहीं हुआ। यदि शिष्य कहता है — ये भेदज्ञान तो ज्ञान है। तो दूसरा प्रश्न आचार्य पूछते हैं कि तुम आस्रवों में प्रवृत्त हो या निवृत्त हो ? यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों में प्रवृत्त हूँ तो फिर इनके भिन्न-भिन्न लक्षणों को

बतलाने से क्या फायदा रहा? यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों से निवृत्त हूँ तो (आस्रव और आत्मा के लक्षण बतलाकर) ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा? अर्थात्, जानते ही बन्ध का अभाव।

2- आस्रव, जड़स्वभावी है और चैतन्य से अन्य स्वभाववाला है; निज भगवान आत्मा, विज्ञानघन-स्वभाववाला, चेतक, स्व-पर का ज्ञाता और चैतन्य से अनन्यस्वभाववाला है — इस प्रकार आस्रव और आत्मा के अन्तर को जानते ही मिथ्यात्व का अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। बड़े से बड़ा पापी भी जिस समय यह जानेगा कि मुझ आत्मा अलग और आस्रव अलग, उसी समय मोक्षमार्ग शुरु हो जाएगा।

भिन्नता ख्याल में कैसे आये? मुझ आत्मा, अबन्धस्वभावी और आस्रव, बन्धस्वभावी — ऐसा जानते-मानते ही बन्धभाव अलग पड़ जाता है।

ज्ञान अविकारी है। विकारीभावों का, अशुभभाव की तो बात, दूर शुभभाव का भी मुझ ज्ञानस्वभाव में प्रवेश नहीं है।

पुण्यभाव मल-मैल, अपवित्र, अशुचि-घिनावना, और निजभगवान आत्मा अति निर्मल, पवित्र और उज्ज्वल है। फिर शुभभाव व शरीर की क्रिया से धर्म का क्या सम्बन्ध रहा?

—ऐसा जानते-मानते ही निज अरूपी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण हो जाता है; फिर ऐसा क्यों, इससे यह, यह हो, यह ना हो, आदि प्रश्न उपस्थित नहीं होते और सादि-अनन्त अक्षय सुख को भोगता है।

आस्रव, बन्धस्वभावी है और निज भगवान आत्मा, अबन्धस्वभावी है। जैसे सुनार, सोने और खोट को अलग-अलग जानकर अलग कर देता है; उसी प्रकार जिस समय जाना मुझ आत्मा,अबन्धस्वभावी है और आस्रव, बन्धस्वभावी है; उसी समय आस्रवभाव भागने शुरु हो जाते हैं। आस्रवभाव कौन-सा? शुभभाव। अशुभभाव की तो यहाँ बात ही नहीं है। आज तो दुनिया पाप से सुख और पुण्य से धर्म मानती है।

वर्तमान ज्ञान की पर्याय में आत्मा और आस्रव के भिन्न-भिन्न लक्षणों को जानकर, उनकी सूक्ष्म सन्धि पर प्रहार करने से दोनों अलग हो जाते हैं। अलग हो जाते हैं — यह तो कहने की बात है, अलग तो थे ही। जो अलग हैं, उनसे मुझ आत्मा के धर्म का क्या सम्बन्ध रहा? ऐसा जानते ही विकार से, शुभभाव व शरीर की क्रिया से धर्म होता है — ऐसी खोटी बुद्धि का अभाव हो जाता है।

'जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है, इसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता' - ऐसी सर्वज्ञ की दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कह सकते; यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। जिसकी दृष्टि, मात्र परपदार्थ पर ही है, उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो इसमें ज्ञानस्वभाव की स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ भरा हुआ है।

दिनाँक 6-3-94

ज्ञान, चैतन्य-चमत्कारस्वरूप हैं

अब 'ज्ञान, चैतन्य चमत्कारस्वरूप है', अर्थात् मुझ आत्मा, चैतन्य-चमत्कारस्वरूप है। किस प्रकार ? मुझ आत्मा में केवलज्ञान, दर्शन आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। निजात्मा की महिमा क्यों नहीं आती ? पर की महिमा होने के कारण। अपनी महिमा कैसे आवे ?

1- जीव अनन्त हैं;

2- जीव से अनन्तगुना अधिक पुद्गल;

3- पुद्गल से अनन्तगुना अधिक तीन काल के समय;

4- तीन काल के समयों से अनन्तगुना अधिक आकाश के प्रदेश;

5- आकाश के प्रदेशों से अनन्तगुना अधिक एक द्रव्य में गुण हैं;

6- एक द्रव्य के गुणों से अनन्तगुना अधिक सब द्रव्यों के गुण;

7- सब द्रव्यों के गुणों से अननतगुणा अधिक सब द्रव्यों की पर्यायें;

8- सब द्रव्यों की पर्यायों से अनन्तगुना अधिक अविभाग प्रतिच्छेद हैं;

9- इस प्रकार विश्व में आठ नम्बर तक ज्ञेय हैं। मुझ आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति हैं। उस केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में सारा विश्व एक साथ जानने-देखने में आता है। ऐसे-ऐसे अनन्त विश्व हों तो भी एक समय की पर्याय में जानने में आ सकते हैं, परन्तु हैं नहीं, तो एक समय की केवलज्ञान पर्याय की ताकत का क्या कहना!

10- केवलज्ञान किसमें से आया ? मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से। तो उस ज्ञानगुण का क्या कहना।

11- ज्ञान जैसे अनन्तगुण मुझ आत्मा में है, उनका मालिक मैं हूँ — यह आत्मा के चैतन्य-चमत्कारस्वरूप को बताता है।

अब तक एक बार भी निज चैतन्य चमत्कारस्वरूप को नहीं जाना, नहीं माना; इसीलिए दु:खी हूँ।

सम्पूर्ण विश्व के साथ मेरा सम्बन्ध क्या रहा ? कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं

अहो ज्ञानीजनों! ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव हैं, वे सब एक पुद्गल की ही रचना जानो, क्योंकि यह भाव, पुद्गल ही है; आत्मा नहीं है; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानधन है, ज्ञान का पुंज है, इसलिए वह वर्णादिक भावों से अन्य ही है।

- आचार्य अमृतचन्द्र

ज्ञायक, सारा विश्व व्यवहार से मेरे ज्ञान का ज्ञेय है। विश्व ज्ञान में नहीं आता; मुझ आत्मा, ज्ञायक; अपनी ज्ञान की पर्याय, ज्ञेय। यह भेद भी नहीं — बस मैं ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक।

सिद्धसमान स्वयं चैतन्य-चमत्कार होने पर भी, उसकी पहचान नहीं करता और संसार में अपनी चतुराई लगाता है, वह चारों गतियों में घूमकर निगोद का पात्र है। निज चैतन्य हीरे की पहचान बिना, यह अमूल्य मनुष्यजीवन व्यर्थ ही जा रहा है।

अरे! 'क्षण भर निज रस को पी चेतन, मिथ्या मल को धो देता है।' मिथ्या मल को धोने का उपाय — बस मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। अरे! आचार्यों ने बस 'स्व' की कीमत ही गायी है कि मुझ आत्मा चैतन्य-चमत्कारस्वरूप है। प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव को इतना ज्ञान का उघाड़ प्रगट है कि अपने को पहचानकर अपना कल्याण कर सकता है। अपने पास चार पैसे हैं, उसे चाहें-अच्छे काम में लगा दें या बुरे काम में लगा दें। उसी प्रकार वर्तमान में प्राप्त अपने मति-श्रुतज्ञान के उघाड़ को घर के कार्यों में, लौकिक पढ़ाई आदि में न लगाकर, निज चैतन्यस्वरूप को पहचानने में लगा दें तो बेड़ा पार हो जाये। स्वरूप की पहचान कैसे हो? मैं जीवतत्त्व हूँ, अनन्त गुणों का धारी हूँ; शरीर से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

'मुझ आत्मा चैतन्य-चमत्कारस्वरूप है' इसकी महिमा छहढ़ाला में भी गायी है।

सम्यग्ज्ञान क्या है? स्व-पर का विवेक। एक तरफ आत्मा, दूसरी तरफ सारी दुनिया।

सकल द्रव्य के गुण अनन्त परजाय अनन्ता।
जानै एकै काल प्रगट केवलि भगवन्ता॥
ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा मृत रोग निवारन॥

एक समय की ज्ञान की पर्याय की ताकत इतनी है कि सकल द्रव्य-गुण -पर्याय की भूत-वर्तमान -भविष्य पर्यायें एक साथ जानने में आती हैं। ऐसी दिव्य अचिंत्य शक्ति कब प्रगट होती है? शरीर से भिन्न मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होते ही सर्व आत्मिक गुणों का विकास होता है, फिर ऐसा क्यों,

वस्तु का परिणमन, सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है - ऐसा निश्चय करने पर, जीव समस्त परद्रव्यों से उदास हो जाता है और स्वद्रव्य के सन्मुख हो जाता है; उसी में सम्यक्त्वादि का पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं।

इससे यह, यह हो, यह ना हो — आदि प्रश्न उपस्थित नहीं होते और सादि-अनन्त सुख को भोगता है।

ज्ञान पर का कुछ नहीं कर सकता

'ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता।' अर्थात्, मुझ निज आत्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं — मुझ आत्मा का इन परद्रव्यों से, उनमें पाये जानेवाले अनन्त सामान्य व विशेषगुणों से तथा उनमें होनेवाले प्रति समय के कार्यों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि हर द्रव्य अपने में अन्तर्मग्न रहनेवाले अनन्त धर्मों का, गुणों का, पर्यायों का स्पर्श करता है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का सर्वथा स्पर्श नहीं करता है। एक द्रव्य की, दूसरे द्रव्य में करने-धरने की बात तब आती है, जब दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध माने। अज्ञानी की विपरीत मान्यता होने से उसे ऐसा लगता है कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं उठता-बैठता हूँ, मैं घर का कामकाज करता हूँ, मैं पढ़ाता हूँ, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि कैलाशचन्द्र आदि शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ व उनका निरन्तर परिणमन सर्वथा जड़ का कार्य है और मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ। जड़ व चेतन, सब द्रव्यों की सत्ता अलग-अलग है। मुझ आत्मा और कैलाशचन्द्र दो सर्वथा जुदी-जुदी वस्तुएँ हैं। जब तक दोनों को एक मानते रहेंगे, कभी भी धर्म की प्राप्ति नहीं होगी।

धर्म की प्राप्ति कैसे हो? प्रत्येक द्रव्य-अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक-एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायरूप अपनी-अपनी सत्ता में रहता है। दूसरे द्रव्य से, अर्थात् शरीरादि से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णय हो तो धर्म की प्राप्ति हो जाती है। प्रत्येक वस्तु में हर समय परिणमन हो रहा है। कायम रहकर बदलना प्रत्येक द्रव्य में है और किसी भी समय द्रव्य कार्यरहित नहीं होता तो मुझे अपने कार्य के लिये पर की और पर को अपने कार्य के लिये मेरी अपेक्षा ही कहाँ रही? शरीर में जुकाम, खाँसी, बालकपन, जवानी, वृद्धावस्था, काला-गोरापना आदि स्वतन्त्ररूप से पुद्गल का ही परिणमन है। पुद्गल भी कायम रहता हुआ, अपना कार्य करता हुआ स्वयं बदलता है; जीव के कारण नहीं — ऐसा निर्णय कैसे हो? जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान हो जाये तो। पदार्थों का स्वरूप कैसा है? अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही धर्म की प्राप्ति हो जाती है।

सम्यग्ज्ञान का आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व, समस्त विकल्प समूहों से सर्वत: मुक्त है – ऐसा सर्व नयसमूह सम्बन्धी यह प्रपञ्च परमात्मतत्त्व में नहीं तो फिर वह ध्यानावली इसमें किस प्रकार उपजी, (अर्थात् ध्यानावली परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है), वह कहो?

– **श्री पद्मप्रभमलधारिदेव**

मैं, ज्ञायक भगवान हूँ, इसके बदले माना मैं कैलाशचन्द्र हूँ। मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है, इसके बदले माना — मैं शरीर के कार्यों का कर्ता हूँ — यह अज्ञान अन्धकार है। जैसे, अन्धकार के होते प्रकाश नहीं हो सकता; उसी प्रकार जब तक अज्ञान अन्धकार रहेगा, तब तक ज्ञानप्रकाश नहीं हो सकता। जिसे ऐसा दिखता है कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं ही उठता-बैठता हूँ, मैं शास्त्र स्वाध्याय करता हूँ, वे भले ही कितने पढ़े-लिखे हों, कितने ही तपस्वी-त्यागी हों, उनको कभी भी धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्यों? उठा तो शरीर, माना मैं उठा तो धर्म कहाँ से हो? करना क्या? मैं उठा-ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना और मैं ज्ञायक हूँ — ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

आचार्य अमृतचन्द्राचार्य, गाथा 86 में कहते हैं कि — 'निश्चय से द्विक्रियावादी ऐसा मानते हैं कि आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं जीव करता है, वे मिथ्यादृष्टि हैं, सर्वज्ञमत के बाहर हैं, क्योंकि एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये नहीं जाते, क्योंकि दो द्रव्यों में परस्पर व्याप्य-व्यापकसम्बन्ध का अभाव है।'

जैसे, मैंने रोटी बनायी — मुझ आत्मा, (शरीरसहित) मैंने रोटी बनायी — ऐसे भाव का व हाथ आदि की क्रिया का तो कर्ता प्रतिभासित हो परन्तु रोटी बनाने का कर्ता स्वप्न में भी प्रतिभासित न हो। क्यों प्रतिभासित न हो? यह बात चार अभावो द्वारा सिद्ध करते हैं-

अत्यन्ताभाव — मुझ आत्मा का रोटी बनाने से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मुझ आत्मा का और रोटीरूप अनन्त पुद्गलों का अत्यन्त अभाव है। दोनों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार मुझ आत्मा का रोटी से सम्बन्ध नहीं है; उसी प्रकार मुझ आत्मा के अलावा विश्व में जितने द्रव्य हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है —ऐसा माना तो अत्यन्ताभाव को माना।

अन्योन्याभाव — रोटी बनने का मुझ आत्मा से तो सम्बन्ध नहीं परन्तु शरीर, तवा, चकला, बेलन आदि से तो रोटी बनी? सर्वथा नहीं, क्योंकि शरीर, तवा, चकला, बेलन व रोटी, सब पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं। एक पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय में अन्योन्याभाव है। जब एक जाति होते हुए भी इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है

वस्तु में जो कुछ हुआ, होता है और होगा; वह सब केवली भगवान जानते हैं और जो कुछ केवली भगवान ने जाना है, वह सब वस्तु में होता है; इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल/सम्बन्ध है। यदि ज्ञेय-ज्ञायक का मेल नहीं माने और किञ्चित्मात्र भी कर्ता-कर्मपना माने तो वह जीव, मिथ्यादृष्टि है।

मङ्गल समर्पण

तो मुझ आत्मा से रोटी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? ऐसा माना तो अन्योन्याभाव को माना और रोटी बनने का मुझ आत्मा से तो सम्बन्ध नहीं, परन्तु कैलाशचन्द्र ने तो रोटी बनायी — ऐसा माना तो अन्योन्याभाव को नहीं माना।

प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव — रोटी बनी - तो रोटी बननेरूप वर्तमान पर्याय का, पूर्व की लोईरूप पर्याय में अभाव, प्रागभाव है और रोटी बननेरूप वर्तमान पर्याय का, भविष्य की पर्याय में अभाव, प्रध्वंसाभाव है।

रोटी बनने का मुझ आत्मा से सम्बन्ध नहीं, शरीर, तवा, चकला, बेलन से सम्बन्ध नहीं, पूर्व की पर्याय से व भविष्य की पर्याय से सम्बन्ध नहीं, परन्तु रोटी तो बनी — रोटी बनी उस समय पर्याय की योग्यतारूप से।

इसमें वीतरागता क्या आयी ? जिस प्रकार रोटी उस समय पर्याय की योग्यता से बनी; उसी प्रकार विश्व के जड़-चेतन सभी द्रव्यों के कार्य, उस समय पर्याय की योग्यता से हो चुके हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे।

ऐसा जानते ही ऐसा क्यों, इससे यह, यह हो, यह ना हो आदि प्रश्न उपस्थित नहीं होते और सादि -अनन्त अक्षय सुख प्रगट हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य भगवान, स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुये कहते हैं कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, उसे परिणमित नहीं कर सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, लाभ-हानि नहीं कर सकता, उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता, उसकी सहायता या उपकार नहीं कर सकता, उसे मार-जिला नहीं सकता - क्यों नहीं कर सकता ? हमें तो लगता है कि हम पर का व पर हमारा करते हैं। आप कहते हों कि सूई की नोंक बराबर भी एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य में प्रभाव नहीं डाल सकता। आखिर क्यों नहीं डाल सकता, सहायता क्यों नहीं कर सकता ?

हम क्या कहते हैं — भाई ! ऐसा अनादि से जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि में आया है कि 'सत् द्रव्य लक्षणम् ,उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्। प्रत्येक द्रव्य, सत् है। जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित हो, वह सत् है। प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर बदलना, उसका स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य, अपने गुण-पर्याय का ही स्पर्श करता है परन्तु एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का सर्वथा स्पर्श नहीं करता।

ऐसे सर्वज्ञ कथित कथन की अवज्ञा करके यदि मैं ऐसा मानता हूँ कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं ही तो उठता-बैठता खाता-पीता हूँ, मैं दूसरों की तथा दूसरे मेरी

जैसे, वास्तव में स्वयं ही एकरसवाली नमक की डली नाना प्रकार के व्यंजनों में (शाकों में) मिलने पर भी भिन्न रसवाली नहीं हो जाती; उसी प्रकार जीव स्वयं ही अद्वैतरूप होकर सर्व अवस्थाओं में चिदात्मक ही है, वह परद्रव्य के संयोग-वियोगपूर्वक होनेवाले जीवादि नवतत्त्वों में विमिश्रित होकर के भी अशुद्ध द्वैतरूप हो नहीं जाता।

– श्री राजमल्ल

रक्षा करते हैं — यह मेरा अज्ञान अन्धकार है। इसी अन्धकार के कारण आज तक मुझे निज ज्ञानप्रकाश प्रगट नहीं हुआ।

आचार्यदेव श्रीसमयसार, गाथा 321 से 323 में कहते हैं कि 'जो आत्मा को पर का कर्ता ही देखते-मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों, तथापि लौकिकजनों की भाँति उनकी मुक्ति नहीं होती।'

मैं कैलाशचन्द्र हूँ - इस मान्यता में शरीर को अपना माना। जब शरीर को अपना माना तो सारी दुनिया को अपना माना। इसका फल - चारों गतियों में घूमकर निगोद। अब चखो अपनी करतूती का फल। हे प्रभु! मुझे निगोद नहीं जाना है, मैं क्या करूँ? करना कुछ नहीं है। बस मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं — ऐसा निर्णय होते ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। जिनको मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो चुका है, जिन्होंने स्वयं को पहचानकर मोक्ष का टिकट खरीद लिया है, वे ज्ञानी सन्त पुरुष कहते हैं कि -

'परद्रव्य और आत्मद्रव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और परद्रव्य में कर्ता-कर्मसम्बन्ध का अभाव होने से, आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?'

आप कहते हो कि ज्ञानी जानते हैं कि परद्रव्य से आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है परन्तु वे भी ऐसा तो कहते हैं कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं स्वाध्याय करता हूँ — ऐसा किस प्रकार है? अरे भाई! ये तो कहने की बात है। लौकिकजनों की भाषा में कथन किया जाता है। जिसको निश्चय प्रगट होता है, उसके कथन को व्यवहार कहा जाता है क्योंकि उन्हें पूरा विवेक निरन्तर वर्तता रहता है। मैं कैलाशचन्द्र हूँ - ऐसा कथन किया।

इसका तात्पर्य क्या समझना? कि मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ। लेकिन निगोद जानेवाले, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — इसी कथन को सच्चा मानकर, इसी का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करके निरन्तर परिभ्रमण बनाये रखते हैं, क्योंकि 'प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष अनादि काल से है, इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर कहते हैं। जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश, शुद्धनय का हस्तावलम्बन जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल, संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी आया नहीं, उसका उपदेश भी विरल है। शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, उसका आश्रय लिये बिना, जब तक जीव व्यवहार में मग्न है (मैं कैलाशचन्द्र

हे भाई! यह (क्रमबद्ध - पर्याय) नियतवाद नहीं है, अपितु अपने ज्ञान का व समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है तो मैं उसके लिए क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव में से प्रगट होती है; इसलिए मैं अपने द्रव्यस्वभाव में एकाग्र रहकर सबका ज्ञाता ही हूँ - ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

मङ्गल समर्पण

हूँ, मैं उठता-बैठता हूँ, मैं स्वाध्याय करता हूँ, मैं पढ़ता हूँ, मैं पढ़ाता हूँ) तब तक आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान, आचरण नहीं हो सकता, अर्थात् संसार का अभाव नहीं हो सकता।'

जो व्यवहारनय के कथन को ही सत्यार्थ मानकर, परद्रव्य मेरा है — ऐसा मानते हैं, वे व्यवहार को ही निश्चय मानकर, आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि है, संसार में भ्रमण करते हैं। क्यों भ्रमण करते हैं? क्यों है वे मिथ्यादृष्टि? उन्होंने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है। पदार्थ का स्वरूप क्या है? हर द्रव्य का कायम रहकर पलटना उसका स्वभाव है। मैं अकेला था, अकेला हूँ, त्रिकाल अकेला ही रहूँगा। एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है तो शरीर मेरा, यह कैसे सम्भव है? शरीर आदि परद्रव्यों की क्रिया मेरी है, यह कैसे सम्भव है?

आज तक तो ऐसा नहीं माना, अब क्या करूँ? मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना। क्यों छोड़ना? क्योंकि व्यवहारनय, स्वद्रव्य-निज आत्मा और परद्रव्य, कैलाशचन्द्र नामरूप अनन्त पुद्गलों को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, सो मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसे श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है। मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसा निश्चय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना। क्यों अङ्गीकार करना? क्योंकि निश्चयनय स्वद्रव्य, अर्थात् निज आत्मा; परद्रव्य, अर्थात् कैलाशचन्द्र को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, सो मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र तो सर्वथा आहारवर्गणा का ही कार्य है — ऐसा निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है?

आचार्य भगवान, गाथा 413 व कलश 292 में फरमाते हैं कि परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार में ही जो मूढ़ अज्ञानी मोहित हैं, वे निश्चय को नहीं जानते। ऐसे जीव जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान से ही मोहित हैं, वे पुरुष तुष को ही जानते हैं, चावल को नहीं जानते, अर्थात् परमार्थ आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते। परमार्थ आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो कैसे? परद्रव्य की कणिकामात्र भी मेरी नहीं है; मैं तो ज्ञायक भगवान हूँ। शरीर आदि पुद्गलद्रव्य हैं, मुझसे उनकी जाति सर्वथा भिन्न है, जड़ में मेरा चेतनस्वरूप आखिर हो कैसे सकता है? अर्थात्, मुझ आत्मा, बस इसके अलावा और कुछ मेरा है नहीं, था नहीं, होगा नहीं — इस

जीवादि अवस्था-निगोद से लगाकर अन्त अवस्था, सिद्ध पर्यायपर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभाव से संयुक्त है और परद्रव्यों की कल्पना से रहित है, सदैव एक चैतन्यरस से सम्पन्न है - ऐसा शुद्धनय की अपेक्षा जिनवाणी में कहा है।
- पण्डित बनारसीदास

प्रकार देखते-जानते ही, उसी समय निशंकतया स्व का स्व व पर का पररूप श्रद्धान हो जाता है। परमार्थस्वरूप निजात्मा के आश्रय से ज्ञानप्रकाश प्रगट हो जाता है, सारा मिथ्या अन्धकार विलय को प्राप्त हो जाता है। तब पता चलता है –

1- अपने-अपने सत्वकूँ, सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसे चिन्तवै जीव तब, परतै ममत न थाय॥

2- एक वस्तु का, दूसरी वस्तु से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जहाँ वस्तुभेद है, अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ कर्ता-कर्म की घटना कैसे घट सकती है?

पुरुषार्थ, जीवद्रव्य की पर्याय है; इसलिए उसका कार्य, जीव की ही पर्याय में होता है, किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य, पर में नहीं होता।

ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता

'ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता, इसी की सिद्धि के लिये समसार, गाथा 308 से 311 तक का मर्म' इस प्रकार है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, अर्थात् अकेला ज्ञायकभाव। निज ज्ञायकभाव का परद्रव्य व विकारीभाव से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, वह सर्वविशुद्ध से तात्पर्य है। विश्व में जितने द्रव्य हैं, कायम रहकर बदलना उनका स्वभाव है। जैसे, सुनार ने अँगूठी बनायी। उस अँगूठी का, आत्मा व सुनार शरीर से सर्वथा सम्बन्ध नही है, क्यों नहीं है? आत्मा एक द्रव्य, उसमें अनन्त गुण और प्रत्येक गुण में हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य। शरीर में अनन्त पुद्गलपरमाणु, प्रत्येक परमाणु में अनन्त -अनन्त गुण, प्रत्येक गुण में हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय, गुण ध्रौव्य। फिर आत्मा, सुनार, अँगूठी में सम्बन्ध क्या रहा? जिनागम में पन्ने-पन्ने पर द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा है।

समयसार, गाथा 3 – प्रत्येक द्रव्य, अपने गुण पर्याय में ही रहता है।

प्रवचनसार, गाथा 93 में विश्व की व्यवस्था बतायी कि सब द्रव्य अपने अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय, अनन्त अर्थपर्याय सहित प्रत्येक द्रव्य की सत्ता है।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52 में 'अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है।'

समयसार में ही एक पर्याय के तीन नाम कहे 'प्राप्य, विकार्य, निर्वत्य –

क्या कहना चाहते हैं ? यही कि जो पर्याय, जिस द्रव्य-गुण में से, जिस पर्याय का अभाव करके, जिस समय आनी है; उसी समय आती है। चार अभावों में भी यही सिद्ध करना है। मुझ आत्मा का शरीर में अत्यन्ताभाव; शरीर में अनन्त पुद्‌गल परमाणु, एक परमाणु की वर्तमान पर्याय का दूसरे परमाणु की वर्तमान पर्याय में अन्योन्याभाव है। मुझ आत्मा की वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में प्रागभाव; भविष्य की पर्याय में प्रध्वंसाभाव है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की स्वतन्त्रता है। जहाँ एक पर्याय का अगली-पिछली पर्यायों से सम्बन्ध स्वीकार नहीं, वहीं जैनधर्म का अनुयायी होने पर भी, मैं अपने को कैलाशचन्द्र मानूँ, कैलाशचन्द्र के कार्यों का कर्ता मानूँ, फिर अभी तो जैनधर्म में प्रवेश ही नहीं है।'

जीव, क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही हैं; अजीव नहीं।

अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है; जीव नहीं।

इन गाथाओं में पहले जीव की बात की है। तो सिद्धालय में अनन्त जीव हैं। एक सिद्ध का दूसरे सिद्ध के साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक सिद्ध भगवान क्या कर रहे हैं ? अपनी सिद्ध / क्षायिकपर्याय कर रहे हैं। उस वर्तमान क्षायिकपर्याय का पूर्व पर्याय में प्रागभाव, भविष्य की पर्याय में प्रध्वंसाभाव है। हर समय प्रत्येक सिद्ध, नया-नया क्षायिकभाव ही कर रहे हैं और करते रहेंगे। वहीं सिद्धालय में निगोदिया भी भरे पड़े हैं। एक निगोदिया का, दूसरे निगोदिया से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। निगोदिया शरीर-औदारिक आदि शरीरों में अनन्त परमाणु। एक परमाणु का, दूसरे परमाणु से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह से सारा विश्व अनादि-अनन्त परिणमन करता रहा है, कर रहा है और करता रहेगा — ओ हो ! ऐसे वस्तुस्वरूप को तो जानते ही, प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता को तो जानते ही पत्थर भी खिल जाये। जीव, क्रमबद्ध अपने परिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है और अजीव क्रमबद्ध अपने परिणाम से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है।

जैसे, मैं उठा तो उठा कौन ? कैलाशचन्द्र शरीर। अब विचारो — कैलाशचन्द्र में अनन्त पुद्‌गल परमाणु। एक परमाणु का, दूसरे परमाणु में अत्यन्ताभाव। एक पुद्‌गल परमाणु की वर्तमान पर्याय का, दूसरे पुद्‌गल की

अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्‌भुत वैभव है कि एक ओर से देखने पर वह अनेकता को प्राप्त है और एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है, एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है।

– आचार्य अमृतचन्द्र

वर्तमान पर्याय में अन्योन्याभाव है। एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का, उसी की पूर्व पर्याय में प्रागभाव, उसी की भविष्य की पर्याय में प्रध्वंसाभाव है। जब एक जाति होते हुए भी परमाणु-परमाणु में करने-भोगने का कोई सम्बन्ध नहीं तो कैलाशचन्द्र के उठनेरूप अनन्त पुद्गलों के कार्य में, मुझ आत्मा कहाँ से आ गया? मुझ आत्मा का इनके साथ सम्बन्ध क्या रहा? दूसरों ने जो कार्य किया, उसका सेहरा अपने सिर बाँधकर, अभिमान करने का प्रयोजन क्या? आचार्य कहते हैं, इस मूर्ख, अभिमानी को चारों गतियों में धक्के खाते हुए निगोद में जाना है।

प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियत है। अपनी-अपनी सत्ता में रहकर, अपना कार्य करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। मैं ज्ञायक हूँ, मैं सबको जान सकता हूँ; पर को बदलना अशक्य है। पर को बदलने का अभिप्राय मिथ्या है। मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं लिखता हूँ, मैं बैठता हूँ, मैं गाता हूँ, मैं बाल बच्चों का पालन - पोषण करता हूँ, मैं घर की देखभाल करता हूँ, यह मेरा मकान है, यह मेरी कार है, यह मेरे कपड़े, जेवर हैं - ये सब गप्पे हैं, मोहरूपी शराबी की उल्टी मान्यताएँ हैं। निगोद की मान्यताएँ हैं। क्यों हैं, ये निगोद की मान्यताएँ? अरे! एक अनार लो। उस अनार में कितने दाने? उनमें से एक दाना लो। उस दाने में अनन्त परमाणु। एक परमाणु का, दूसरे परमाणु में अत्यन्ताभाव है; एक परमाणु की वर्तमान पर्याय का, दूसरे परमाणु की वर्तमान पर्याय में अन्योन्याभाव। वर्तमान पर्याय का अगली-पिछली पर्याय में प्रध्वंसाभाव व प्रागभाव। जब एक दाने में एक परमाणु का, दूसरे परमाणु से सम्बन्ध नहीं तो और दूसरे अनार के दानों से क्या सम्बन्ध रहा? एक अनार में ही यह स्थिति है, तो मुझ आत्मा का शरीरादि स्थूल स्कन्धों से सम्बन्ध है — यह मान्यता प्रत्यक्ष निगोद में जाने का कारण है। निगोद में नहीं जाना तो निर्णय कर — मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ। प्रत्येक द्रव्य कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है। मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, किसी भी जड़ या चेतनद्रव्य से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

ऐसा जानते-मानते ही, ऐसा क्यों, इससे यह, यह हो यह ना हो आदि प्रश्न उपस्थित नहीं होते और सादि-अनन्त अक्षयसुख को प्राप्त करता है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जो देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया, उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो - यह हो ही कैसे सकता है? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

मङ्गल समर्पण

जीव शुद्ध निश्चयनय से शुद्धात्मा का ध्यान करता हुआ, शुद्ध ही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है तथा व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर के अशुद्धात्मा का विचार करता हुआ, अशुद्ध ही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। ठीक है– मनुष्य, सोने में से सोनामय कुण्डल और लोहे में से लोहामय कुण्डल ही उत्पन्न करता है।

– आचार्य पद्मनन्दि

ज्ञान सर्व समाधान कारक है — किस प्रकार?

(1) अनादि काल से मोह के कारण में अज्ञानी पागल हो रहा हूँ, चारों गतियों में रखड़ रहा हूँ। इस असार संसार में भ्रमण करते हुये महान पुण्योदय से सद्गुरु का योग मिला, उन्होंने बताया –

❖ तू ज्ञायक भगवान है, कैलाशचन्द्र नहीं है।

❖ प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर परिणमन करना स्वभाव है, तू व्यर्थ में पर का कर्ता–भोक्ता बनकर दु:खी हो रहा है।

❖ सुबह से शाम तक जितना रूपी कार्य दिखाई देता है, वह सर्वथा पुद्गल का है; जीव का नहीं।

— ऐसा ज्ञान में आते ही दु:ख का अभाव हो जाता है; अत: सिद्ध होता है कि 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

(2) अनादि काल से अपने को कैलाशचन्द्र मानने के कारण दु:खी हूँ, वर्तमान में सद्गुरु ने बताया कि तू तो अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादिगुणों का धारी, अनादि–निधन वस्तु है और कैलाशचन्द्र मूर्तिक पुद्गलद्रव्य का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, नवीन जिसका संयोग हुआ है — ऐसे ये कैलाशचन्द्र शरीर तो पर हैं, इससे तेरा सम्बन्ध नहीं। उसी समय दु:ख का अभाव। अत: सिद्ध होता है कि 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।' होता क्यों नहीं? इसलिए कि अभी गुरु का, जिनवाणी का विश्वास ही नहीं तो अपना विश्वास कैसे हो?

(3) अनादि से पर का कर्ता बनकर जीव दु:खी है। यह कैलाशचन्द्र जिस समय ऐसा माने कि 'अनादि–निधन वस्तुएँ भिन्न–भिन्न अपनी–अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। — ऐसा जाना, उसी समय कर्ताबुद्धि से उत्पन्न होनेवाले दु:ख का अभाव हो जाता है। अत: सिद्ध होता है कि 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

(4) आज तक शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि के संयोग को संसार माना था, जिससे दु:खी था। सद्गुरु ने बताया कि शरीर, स्त्री, पुत्र धन मकान आदि संसार नहीं है; शरीरादि 'परद्रव्यों में यह मैं' इसका नाम संसार है। इस मान्यता को छोड़ दें तो मुक्त ही है। ऐसा जानते ही मुक्त हो गया; अत: सिद्ध हो

गया कि 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।' परद्रव्यों में यह पकड़ ऐसी है, जैसे बन्दर मुट्ठी को नहीं छोड़ता, तोता नलिनी को नहीं छोड़ता, रस्सी को सर्प मानकर भयभीत होता है; इसी प्रकार अज्ञानी, पर को निज मानकर दु:खी है और पर से भिन्न, निज आत्मा को जानते ही सब समाधान हो जाता है।

(5) जैसे कुत्ता, गाड़ी के नीचे चलता हुआ ऐसा मानता है कि मैं गाड़ी को चलाता व ठहराता हूँ। उसी प्रकार अज्ञानी सुबह से शाम तक 'मैंने यह किया, मैंने यह किया' इस अहंकार मैं भौंकता रहता है; तभी सद्गुरु ने बताया अरे! यह सब रूपीकार्य सर्वथा पुद्गल है, तू व्यर्थ में पागल हो रहा है; तू तो जीव है, तेरा पुद्गल से क्या सम्बन्ध है? उसी समय ऐसा जानते ही दु:ख का अभाव हो जाता है; अत: सिद्ध हो गया 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

(7) अनादि से अपने को भूलकर, स्वयं को कैलाशचन्द्र मानकर सुबह से शाम तक कैलाशचन्द्र की ही सेवा कर करके वृथा ही दु:खी हो रहा है, सद्गुरु ने बताया कि यह कैलाशचन्द्र तो जड़ है — ऐसा जानते ही शरीर में एकत्वबुद्धि का अभाव और सुख की प्राप्ति हो जाती है; अत: सिद्ध होता है — 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

(8) वास्तव में अज्ञानी भी निरन्तर ज्ञान ही करता है, उस ज्ञान की पर्याय में परद्रव्य निमित्त पड़ता है; अपने ज्ञानस्वभाव का पता न होने के कारण, उन परद्रव्यों को देखकर लोटने लगता है, अर्थात् उन्हें अपना मानकर उसमें किसी को अच्छा, किसी को बुरा मानकर चौबीस घंटे पागल बनता है। पुण्योदय से सद्गुरु का योग बना, उन्होंने बताया — तू जीवतत्त्व है, अजीवतत्त्व से तेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। — ऐसा जानते ही पर में पागलपन का अभाव हो गया; अत: सिद्ध होता है — 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

(9) अनादि से पर (कैलाशचन्द्र, स्त्री, पति, बच्चे, धन, मकान, आभूषण,) नीच को उच्च मानकर दु:खी हो रहा था। गुरु ने बताया कि ये पर नीच है, स्व उच्च है। ये पर तुमको रंचमात्र कुछ भी नहीं दे सकते। तुम झूठ ही यह मान रहे हो कि ये तुमको कुछ सुख देते हैं। ये पर नीच हैं, तुम इनको उच्च मानकर स्वयं नीच हो रहे हो। तुम चेतन राजा हो। निज चेतना ने अजीवतत्त्व को अपना मानकर झूठा स्वांग धारण किया है, इस परभावरूप स्वांग को / अजीवतत्त्व को भिन्न जानकर दूर करो। उसको दूर करते ही निज चेतन राजा की वचनातीत महिमा प्राप्त

केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है, किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ है। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और मोक्ष की शङ्का नहीं रह सकती। यथार्थ निर्णय करे और मोक्ष का पुरुषार्थ न आये - यह हो ही नहीं सकता।

करोगे, तीन लोकों में तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी — ऐसा जानते ही दु:ख का अभाव हो गया; अत: सिद्ध होता है कि — 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

(10) जैसे स्फटिक में लाल रंग दिखता है परन्तु यह स्फटिक का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार शुभ; अशुभभावों में निरन्तर पागल बनकर, अशुभ से सुख व शुभभाव से धर्म मानकर, चैन मानता था; गुरु ने बताया कि ये शुभाशुभभाव, बन्धस्वभावी हैं; तू अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा है — ऐसा जानते ही पागलपन का अभाव हो गया; अत: सिद्ध होता है — 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है।'

ऐसा समाधान होते ही ऐसा क्यों, इससे यह, यह हो, यह ना हो आदि प्रश्न उपस्थित नहीं होते और सादि-अनन्त अक्षय सौख्य को भोगता है।

(1) ज्ञान, अरूपी है। (2) ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र विघ्न नहीं कर सकता। (3) ज्ञान, अविकारी है। (4) ज्ञान, चैतन्य चमत्कारस्वरूप है। (5) ज्ञान पर का कुछ नहीं कर सकता। (6) ज्ञान, सर्व समाधान कारक है।

— उपरोक्त छह बोलों के तात्पर्य को प्रवचनसार, गाथा 190 से 195 तक में किस प्रकार सिद्ध किया है ?

1— प्रवचनसार, गाथा 190 में कहते हैं कि मुझ निजात्मा के अलावा, इस विश्व में जीव अनन्त; पुद्गल अनन्तानन्त; धर्म-अधर्म आकाश एक-एक; और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। ये सब परद्रव्य हैं; जानने योग्य हैं। इनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। इस बात को भूलकर, देह में अहंकार व धनादिक में ममकार करता है। वह मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म व पूज्य गुरुदेव का समागम मिलने पर भी उल्टे रास्ते पर हैं; धर्म से सर्वथा दूर है, निगोद का पात्र है। समयसार में तीन प्रकार का सम्बन्ध बताया — तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध, अपने अनन्त गुणों के साथ; संयोगसिद्धसम्बन्ध, शुभाशुभभावों के साथ; परस्परअवगाह -सिद्धसम्बन्ध, आठ कर्मों के साथ; लेकिन देह-धनादि के साथ किसी भी अपेक्षा किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

जो देह, धनादि में अपनापना नहीं मानता है, वह मोक्ष के रास्ते पर हैं। उसकी दृष्टि चौबीस घंटे अपने स्वभाव पर ही रहती है। जो देह को अपना मानता है, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा मानता है, उसकी दृष्टि सारी दुनिया पर रहती है। शरीर, दु:ख का कारण नहीं है; शरीर में यह 'मैं' ऐसी मान्यता ही दु:ख का कारण है। देह में ममता है तो चाहे कितना ही शास्त्र का अभ्यासी हो, उल्टे रास्ते पर ही

हे जीव! शुद्धनय से सब जीव शुद्ध ही हैं - ऐसा जानकर तू कभी भी शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना को न छोड़। वास्तव में शुद्धनय का सेवन करनेवाला जीव सदा शुद्ध रहा करता है।

-श्री नैमिश्वर

है। जो शरीर को अपना मानता है, वह चौबीस घंटे पागल-पागल-पागल बना रहता है।

पागलपन का अभाव आखिर हो कैसे? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं। 'तास-ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानौ'। 'भेदविज्ञानतः सिद्धा-सिद्धा ये किल केचन' — आज तक जितने पार हुए हैं, एकमात्र स्व-पर के भेदविज्ञान से। जितने जीव धक्के खा रहे हैं — एकमात्र स्व-पर के भेदविज्ञान के अभाव से। शरीर का सम्बन्ध कुछ समय पहले यहीं हुआ और सब कुछ यही रह जायेगा। जीव अकेला आया था, अकेला ही यहाँ से चला जायेगा — ऐसा ही माने तो पागलपन का अभाव हो।

(2) गाथा, 191 में सम्यग्दर्शन व आगे बढ़ने का उपाय बताते हैं कि मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं; मैं एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ — इस प्रकार जो ध्यान करता है, उसी समय निर्विकल्प होता है। अनादि से जीव, स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीतश्रद्धान के कारण मिथ्यादृष्टि है। जिस समय भी जीव, चाहे तिर्यंच में हो, नरक में हो, देव हो, या मनुष्य हो, यह मानेगा कि यह मैं आत्मा हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ — ऐसा स्व-पर का श्रद्धान होते ही सम्यक्त्वी होता है। जैसे, साँप को देखते ही पीछे हट गये। एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। फिर किसका पति? किसके बच्चे? किसका धन? किसका मकान? व्यर्थ में जीव उन्हें अपना मानकर पागल बनता है। एकमात्र निजात्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की प्राप्ति होती है, ऐसा इस गाथा में आचार्य भगवान सिद्ध करते हैं।

(3) प्रवचनसार, गाथा 192 में यह बताते हैं कि निज शुद्धात्मा ही के आश्रय से सुख क्यों होगा? निज शुद्धात्मा ही क्यों उपलब्ध करने योग्य है? निज भगवान आत्मा ज्ञानात्मक, दर्शनरूप, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल और निरालम्ब है और इसीलिये वह एक है; एक है तो शुद्ध है; और शुद्ध होने से ध्रुव है; ध्रुव होने से निज भगवान आत्मा ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है।

(गाथा 193 में) शरीर, धन, सुख-दुख शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध होने से अध्रुव हैं,अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं है। — ऐसा जानते ही मोहग्रन्थि का क्षय करता है। एक समय के लिये शरीर को अपना न माने, उसी समय मोहग्रन्थि का अभाव होता है। एक समय की भी देरी नहीं लगती, शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

जिस ज्ञान ने अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का निर्णय किया, उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है, उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की, किन्तु राग से पृथक् होकर, अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है।

मङ्गल समर्पण

जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर-थर काँपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि, छोड़ खुद ही भागते हैं॥

(4) अब, गाथा 195 में कहते हैं।

इस मोहग्रन्थि के टूटने से राग-द्वेष का क्षय करके, सुख-दुख में समान होता हुआ, अक्षय सुख को प्राप्त करता है, अर्थात् निज शुद्धात्मा की प्राप्ति होते ही रास्ता उसके हाथ में आ गया। उसे अब किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है। अपने स्वभाव में जैसे-जैसे स्थिर होता जाता है, क्रम से सिद्धदशा की प्राप्ति कर लेता है।

जिसको अपनी आत्मा का आश्रय हो जाता है, उसको ऐसा क्यों, इससे यह, यह हो, यह ना हो आदि प्रश्न उपस्थित नहीं होते क्योंकि ज्ञानी तो सबका ज्ञाता है, वह जानता है कि वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं रहती।

समस्त सुकृत (शुभकर्म) भोगियों के भोग का मूल है, परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भव से विमुक्त होने हेतु उस समस्त शुभकर्म को छोड़ो और सारतत्त्वस्वरूप ऐसे अभय समयसार को भजो। इसमें क्या दोष है?

– श्री पद्मप्रभमलधारिदेव

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 16-3-94

बात जरा सी........

आत्मा के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगटी, तब जैनधर्म की शुरुआत हुयी। शुरुआत हो कैसे? जिनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, उन्हें अपना न माने – झगड़ा समाप्त। जिनसे कोई सम्बन्ध नहीं, जिनका कुछ कर नहीं सकता – ऐसे शरीरादि में कोशिश कर-करके सारा जीवन व्यर्थ गँवा रहा है। व्यर्थ क्यों कहा? क्योंकि ये सब रूपीकार्य सर्वथा पुद्गल के हैं, जीव से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जैसे बेल, कूँड़े पर सिर देकर मारता है – यह दशा अज्ञानी की है। जिसमें अपनी होशियारी सर्वथा नहीं –ऐसे कार्यों में बुद्धि लगाना, रेत में से तेल निकालने के समान हैं, पानी में से मक्खन निकालने जैसा है। सोचो-शरीर में से, पाँच इन्द्रिय के विषयों में से सुख आयेगा कैसे? जब वहाँ सुख नाम का कोई गुण नहीं, कोई पर्याय नहीं। सुख है कहाँ? मिले कैसे? सुख की खान मैं आत्मा स्वयं हूँ। बाहर में सुख नहीं है। अजीवतत्त्व से भिन्न एक बार समझ ले। सुख का दरिया बह निकलेगा। सर्व प्रथम सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र का विश्वास जरूरी है। जो अभी कुदेवादि को मानता

है, उसका तो कल्याण का प्रश्न ही नहीं। शरीर को अपना मानने के कारण, आत्मा पर दृष्टि नहीं जाती, यही प्रमाद है। जहाँ से सुख-दुःख का सम्बन्ध नहीं, वहाँ से सुख-दुःख मानना ही प्रमाद है। सुख का खजाना स्वयं है, कानी आँख से उधर देखने भर की देर है। अनादि से जीव मोह-राग-द्वेष के कारण ही धक्के खा रहा है। पर की सावधानी करते-करते अनन्त काल बीत गया परन्तु पर सावधान हुआ नहीं; एक बार अपनी सावधानी कर लूँ तो बेड़ा पार। जिनसे सुख माना, उन्हें मिलाने, जिससे दुःख माना, उन्हें हटाने में निरन्तर दुःखी रहता है। सारे घरवाले मर जायें, ऊपर से बम पड़ रहे हों — तो भी दुःख का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

एक मनुष्यपर्याय होने पर ही कोई सच्ची बात समझकर अपना भला करना चाहें तो हो सकता है। मनुष्यपर्याय का भी बालक-वृद्धपना तो सुखयोग्य नहीं, बीच की जवानी की अवस्था रोग, क्लेश आदि से युक्त है, वहाँ सुख हो नहीं सकता; कोई विषय-सुख का लोभी उसे बिगाड़े तो बिगाड़े परन्तु यदि उसे धर्मसाधन में लगाये तो बहुत उच्चपद को पाये, वहाँ सुख निराकुल होता है। सच्ची समझ क्या है ? मैं ज्ञायक भगवान हूँ; शरीर नहीं हूँ। सुख मुझ आत्मा में से ही आता है। पाँच इन्द्रिय के विषयों में सुख न था, न है, और नहीं होगा।

जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर, भवरहित केवल-ज्ञान की प्रतीति की है, वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिए उस ज्ञान में भव की शङ्का नहीं है।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 21-3-94

ज्ञान, ज्ञान से ही; ज्ञेय से नहीं

मुझ आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान उसका स्वभाव है; ज्ञेय से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जीव, राग-द्वेष करता है, उसकी अपनी मूर्खता से होता है; कर्म के कारण नहीं। क्या स्त्री, बच्चे आदि के कारण पागल बनता है ? सर्वथा नहीं। आत्मा अमूर्तिक है, रूपीपदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं। आत्मा अमूर्तिक होने पर भी, मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ कैसे बँधता है ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं, जैसे आत्मा, अमूर्तिक होने पर भी मूर्तिक पुद्गलों को, पदार्थों को, जानता है; उसी प्रकार कर्म पुद्गलों के साथ बँधता है। इसी का स्पष्टीकरण –

(1) ज्ञानपर्याय का ज्ञेय के साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान के अनुसार,

ज्ञेय पर आरोप आता है। जैसे दर्पण में दिखनेवाला प्रतिबिम्ब, दर्पण की स्वयं की स्वच्छता है; सामनेवाले पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं है। जिस प्रकार केवलज्ञान का लोकालोक के साथ और लोकालोक का केवलज्ञान के साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं है; उसी प्रकार प्रत्येक जीव के ज्ञान का, अपनी ज्ञान की पर्याय के साथ सम्बन्ध है परन्तु ज्ञेय से सर्वथा सम्बन्ध नहीं। ज्ञेय से ज्ञान, इन्द्रियों से ज्ञान, कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान — यह मिथ्या अध्यवसाय है। इसका अभाव कैसे हो ? ज्ञेय से, इन्द्रियों से ज्ञान होता है — ऐसा व्यहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना। ज्ञान मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आया —ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

जिस प्रकार मुझ आत्मा में होनेवाली ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय से सम्बन्ध नहीं; उसी प्रकार जहाँ ऐसा कहा जाता है कि अमुक अज्ञानी आत्मा का मूर्तिक कर्म पुद्गलों के साथ बन्ध है, वहाँ वास्तव में आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; आत्मा का तो, कर्म जिसमें निमित्त है, ऐसे रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध है। एक बार ऐसा निर्णय हो जाये कि मैं राग-द्वेष के कारण दु:खी हूँ, कर्म के कारण नहीं, उसी समय राग-द्वेष का अभाव हो जाये। होता क्यों नहीं ? राग-द्वेष है तो अपनी मूर्खता से, माना पर से, तो कल्याण कैसे हो ? राग-द्वेष का भाव, आस्रव-बन्धतत्त्व है, दु:खरूप है, छोड़ने योग्य है; उपादेय नहीं है। अपनी पर्याय में दोषरूप से हैं, स्वभाव में इनका प्रवेश नहीं है। जीव को कर्म चक्कर नहीं कटाते, राग-द्वेष नहीं कराते। तो करना क्या ? कर्म चक्कर कटाता है —ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना। जीव अपनी मूर्खता से चक्कर काटता है — ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

जिस प्रकार ज्ञान का ज्ञेय से सम्बन्ध नहीं; राग-द्वेष के भावों का, कर्म के उदयादि से सम्बन्ध नहीं; उसी प्रकार निश्चय से आत्मा का स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, मकानादि से सर्वथा सम्बन्ध नहीं। आत्मा का तो मेरी स्त्री, मेरा परिवार, मेरा घर — ऐसे ममत्वभाव, रागभाव के साथ सम्बन्ध है। उस राग में प्रत्यक्ष भिन्न इन स्त्री-पुत्रादि आदि पदार्थों का निमित्त होने से, इस मनुष्य को पत्नी, पुत्र आदि का बन्धन है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है । योगसार में कहा है कि —

मङ्गल समर्पण

हे जीव! यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा और मात्र पुण्य ही पुण्य करता रहेगा, तो भी तू सिद्ध सुख को नहीं पा सकता, किन्तु पुन:-पुन: संसार में ही भ्रमण करेगा।

- आचार्य योगीन्दुदेव

जन्म मरण इकला करे, सुख - दुःख भोगे एक।
नरक गमन भी एकला, मोक्ष जाये जीव एक॥
यदि जीव तू है एकला, तो तज सब परभाव।
ध्यावो आत्मा ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष सुख पाव॥

निजात्मा का आश्रय हो कैसे ? मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ - ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना। मैं कैलाशचन्द्र हूँ, यह मेरे स्त्री-पुत्रादि हैं — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ जानकर, उनका श्रद्धान छोड़ना।

सारांश यह है कि 1- ज्ञान का ज्ञेय से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।
2- राग-द्वेष का कर्म के उदय से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था ही होती है, तब निमित्त उसे करता है अथवा निमित्त उसमें कोई परिवर्तन कर डालता है, यह बात कहाँ रही ? निमित्त, पर का कुछ भी नहीं करता, तथापि जो यह मानता है कि मेरे से पर में कोई परिवर्तन होता है, वह सच्चे न्याय को नहीं मानता।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 31-5-94

क्या है द्रव्य का अस्तित्व ?

प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय अस्तित्व-वस्तुत्वादि अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायें - ऐसी अपनी-अपनी मर्यादा में प्रत्येक जड़-चेतनद्रव्य त्रिकाल रहते हैं। यही उनकी सत्ता है; इससे बाहर न कोई द्रव्य निकला है, न निकलता है और न ही निकल सकेगा — ऐसा स्वभाव प्रत्येक द्रव्य का है। यह स्वभाव कैसा है ? पर साधन की अपेक्षारहित होने से अनादि -अनन्त है, अहेतुक है, एकरूप वृत्ति से त्रिकाल प्रवर्तता है; विभावधर्म से भिन्न है। भाव, अर्थात् गुण -पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और भाववान, अर्थात् द्रव्य; इस प्रकार भाव और भाववान के कारण, अनेकपना होने पर भी, प्रदेशभेद न होने से द्रव्य के साथ एकत्व होने से द्रव्य का ही स्वभाव है।

इस प्रकार सर्व काल में अनेक प्रकार के गुण, अनेक प्रकार की पर्यायें

और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है, वह अपना स्वभाव है। इसी प्रकार मुझ आत्मा के अतिरिक्त, अन्य जितनी भी आत्माएँ हैं, सबका ऐसा ही स्वभाव है।

मुझ आत्मा का स्वभाव क्या है ?

अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, ज्ञान-दर्शनादि अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायें, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित मुझ आत्मा का अस्तित्व हैं। यह अस्तित्व ही अपना स्वभाव है। अपना स्वभाव कैसा है ? पर, अर्थात् अन्य द्रव्यों की अपेक्षारहित है; अनादि-अनन्त है, अहेतुक है, एकरूप वृति से प्रवर्तमान है; विभावधर्म से भिन्न है; भाव और भाववानरूप अनेकता होने पर भी प्रदेशभेद न होने के कारण, मुझ आत्मा का स्वभाव ही है। गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित — मुझ आत्मा का अस्तित्व और मुझ आत्मा का प्रदेशभेद नहीं है, एक ही हैं; समझाने के लिये अनेकपना है। वस्तु तो जैसी है, त्रिकाल वैसी ही है। गुण-पर्यायों से द्रव्य की और द्रव्य से गुण-पर्यायों की सिद्धि होती है; अतः द्रव्य-गुण पर्याय का अस्तित्व एक ही है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' द्रव्य से और द्रव्य 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' से उत्पन्न होता है; अतः सिद्ध होता है कि 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' व द्रव्य का अस्तित्व एक ही है; भिन्न-भिन्न नहीं है।

इसमें वीतरागता क्या निकली ?

मेरी सत्ता ही मेरा खजाना है, मैं स्वयं में परिपूर्ण हूँ; मुझे पर की किञ्चितमात्र आवश्यकता नहीं है। मेरे अनन्त गुण और उनमें हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और द्रव्य कायम रहता है, उसमें से कभी निकला नहीं हूँ, और न कभी निकल सकूँगा – तो अपने को भिखारी बनाकर पर की सत्ता को अपना बनाने का प्रयत्न करने की कोशिश स्वयं को दु:खी करना है। पर की सत्ता को निज मानकर, उन्हें मिलाने व हटाने की कोशिश निरर्थक है, चारों गतियों में परिभ्रमण का कारण है। परिभ्रमण का अभाव कैसे हो ? प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में ही रहता हुआ, अपना-अपना कार्य करता है। फिर अपने कार्य के लिये मुझे, पर या व पर को मेरी अपेक्षा नहीं है, उसी समय पर में अहंकार – ममकारपने का अभाव होकर ज्ञाता-दृष्टाबुद्धि प्रगट हो जाती है।

प्रश्न — मुझ आत्मा के इस स्वभाव को जानने का प्रयोजन क्या है ?

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है, निमित्त विशिष्टता नहीं ला सकता 'क्योंकि पर, अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावरूप करने का निमित्त नहीं हो सकता।'

– ***आचार्य कुन्दकुन्द***

उत्तर — मुझ आत्मा का पृथक अस्तित्व है। मुझ आत्मा के एक अस्तित्व का, मुझ निजात्मा के अलावा जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म, आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात द्रव्यों के अस्तित्वों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — लेकिन मुझ आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों, उनकी एक-एक समय की त्रिकालवर्ती पर्यायों, एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय व द्रव्य-गुण-ध्रौव्यरूप अनेकपना कहने में हैं, समझाने में हैं। संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा ऐसा अनेकपना बताया; प्रदेशभेद नहीं है। अतः गुण-पर्याय, द्रव्य से व द्रव्य, गुण-पर्याय से निष्पन्न होता है; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की उत्पत्ति, द्रव्य से तथा द्रव्य की उत्पत्ति, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से होती है; अतः गुण-पर्याय और द्रव्य का तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व द्रव्य का अस्तित्व एक ही है। अपनी सत्ता अपने में, अपना कार्य अपने में; फिर दूसरे द्रव्यों से प्रयोजन क्या? उसी समय पर को परिणमाने का भाव सर्वथा समाप्त होकर, ज्ञाताबुद्धि प्रगट हो जाती है, यही धर्म है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 96 पर)*

वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमति है, उसका कर्ता दूसरा नहीं है। जैसे ज्ञान, समस्त वस्तुओं को मात्र जानता है, किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है; इसी प्रकार परद्रव्य, निमित्तमात्र होता है; वह उपादान में कुछ करता नहीं है।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 4-6-94

सत् स्वरूप का निर्णय : मोक्षमार्ग का प्रारम्भ

अपनी सत्ता का पता चलते ही दुःख का अभाव होता है। अपनी सत्ता क्या है? अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, ज्ञान-दर्शनादि अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायें; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित ये मुझ आत्मा की सत्ता है। इस सत्ता से बाहर मैं भगवान आत्मा निकला नहीं हूँ और न ही निकल सकूँगा। इसी प्रकार मुझ आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में ही रहता है। इसमें त्रिकाल में हेर-फेर नहीं हो सकता। उसे ऐसा मानेगा, उसी समय जो अपनी सत्ता का पता चल गया और मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो गया।

अब विचारो? शरीर बहुत सुन्दर हो तो आत्मा को क्या लाभ? शरीर

कुरूप हो तो आत्मा को क्या नुकसान? पैसे बहुत हो तो आत्मा को क्या लाभ? पैसा न हो तो आत्मा को क्या नुकसान? अरे मैं तो साक्षात् भगवान हूँ। सिद्धसमान हूँ। जिस प्रकार सिद्धभगवान, ज्ञायक और सारा विश्व, व्यवहार से ज्ञान का ज्ञेय है; उसी प्रकार मुझ आत्मा का भी अजीवतत्त्व से मात्र ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है, अर्थात् जानने योग्य है, कोई सम्बन्ध नहीं है।

मैं यहाँ अकेला आया था, अकेले जाना है। स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, मकान, रुपया, पैसा, नौकर, चाकर कोई साथ आया नहीं, साथ जावेगा नहीं - इनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। मैं तो आत्मा हूँ। कैसा आत्मा हूँ? 'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध-ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु मैं हूँ।' — ऐसा विश्वास क्यों नहीं होता? मैं अपने कारण से हूँ; अन्य द्रव्य अपने-अपने कारण से हैं। मैं अरूपी हूँ, आत्मा हूँ। अपना संसार भी अपने से, मोक्ष भी अपने से है। पर में अपनापना ही दु:ख है, परद्रव्य दुख का कारण नहीं है। किसी द्रव्य से, अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, फिर परद्रव्य, मुझ आत्मा में दु:ख उत्पन्न करे, यह असम्भव है। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व, द्रव्य से पृथक नहीं है। अस्तित्व, अर्थात् गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य।

प्रत्येक द्रव्य, स्वभाव से सिद्ध है, अर्थात् गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभाव से सिद्ध है; अत: सत् है क्योंकि जो गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हो, वही सत् है — ऐसा जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है। यह शब्दसमय है।

— ऐसा ही सत् है यह अर्थसमय है।

— ऐसा ही सत् जानकर, निज सत् का अनुभव होना, ज्ञानसमय है। इस ज्ञानसमय की प्राप्ति, जीव का स्वयं का पुरुषार्थ है, इसमें जिनेन्द्र भगवान भी कुछ नहीं कर सकते।

जो भगवान की वाणी का अविश्वास कर, विश्व की व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता, वह परसमय है।

प्रश्न - स्वभावसिद्धता कैसी है?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभाव में वर्तता है। वह स्वभाव अनादि-निधन है। अनादि-निधन स्वभाव, किसी पर साधन की अपेक्षा नहीं रखता।

लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं; कोई किसी को सुख-दु:खदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव व्यर्थ ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक-उपकारी मानकर इष्ट मानता है अथवा दु:खदायी-अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है।

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

शास्त्र पढ़ने का भाव, लिखने का भाव भी मोक्ष में अन्तराय है, फिर भी सविकल्पदशा में ऐसा करुणापूर्ण भाव आता है। हे भव्यों! चेतो, तू एक सत् है, साक्षात् भगवान है; अन्य सत् हैं परन्तु उनसे तेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में रहकर, अपना-अपना कार्य करता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी यही कहा है — अनादि-निधन वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है।

प्रश्न- द्रव्यों से क्या उत्पन्न होता है ?

उत्तर- जो द्रव्यों से उत्पन्न होता है, वह द्रव्यान्तर नहीं है। अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय, अनन्त अर्थपर्यायें; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य से ही उत्पन्न होते हैं; अतः द्रव्य से अलग नहीं हैं।

प्रश्न- द्रव्य और सत्ता में भेद है। यह भेद, प्रादेशिक है या अतद्भाविक है ?

उत्तर- द्रव्य और सत्ता में प्रादेशिकभेद नहीं है; अतद्भाविकभेद है। यह भेद भी समझाने के लिये है, वस्तु में यह भेद नहीं है; वस्तु तो अभेद ही है। अभेद वस्तु को समझाने की अपेक्षा यह अतद्भाविकभेद मुख्य है और जब अभेद वस्तु का आश्रय होता है तो यह अतद्भाविकभेद गौण हो जाता है।

प्रश्न- अतद्भाविकभेद क्या है ?

उत्तर- द्रव्य है, वह गुण नहीं; गुण है, वह पर्याय नहीं है; उत्पाद है, वह व्यय नहीं; उत्पाद-व्यय है, वह ध्रौव्य नहीं है। इस प्रकार समझने के लिये यह अतद्भाविकभेद है। वास्तव में वस्तु अभेद ही है, उसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। ***(श्री प्रवचनसार, गाथा 98 पर)***

इस प्रकार मुझ आत्मा का अस्तित्व अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है। इससे बाहर मेरा कुछ न था, न है, न बनेगा। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने अस्तित्व में है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में है, फिर शरीर की अनन्त पुद्गलों की सत्ता को अपना मानने का प्रयोजन क्या ? मात्र दुःखी होना है। कान में दर्द है, नाक में दर्द है, आँख में दर्द है - तरह-तरह की चिन्ताएँ। आखिर क्यों ? अपने अस्तित्व का पता नहीं। शरीर की, कैलाशचन्द्र की सत्ता को अपना मानने के कारण सुखी कैसे हो ? मैं ज्ञायक भगवान हूँ, शरीर

अहो! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है! समस्त वस्तुओं में क्रमवर्तित्व चल ही रहा है। जो पर्याय होनी है, वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव, कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर के कर्तृत्व का अभिमान करता है, उसकी पर्याय अज्ञानमय होती है और जो ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

की सत्ता तो सर्वथा अनन्त पुद्गलों की सत्ता है, मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

अब समझना क्या? प्रत्येक द्रव्य, सत् है। सत् किसे कहते हैं – जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सहित है। प्रत्येक द्रव्य में हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और द्रव्य, ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त–अनन्त गुण हैं। हर गुण में हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य रहता है। सब द्रव्यों का खजाना स्वयं में, स्वयं का कार्य स्वयं में होने से प्रत्येक द्रव्य, स्वभाव से सिद्ध है। दूसरे की सत्ता में कुछ भी करना अशक्य है। मेरी सत्ता अनादि–अनन्त एकरूप है, उसमें हेर –फेर करने में जिनेन्द्रभगवान भी समर्थ नहीं हैं। अपनी सत्ता को ही अपना मानना। दूसरे की सत्ता को अपना मानना तो महान मिथ्यात्व है, महान पाप है, करोड़ों कत्ल करने से बड़ा पाप है, अनन्त संसार का कारण है।

देह–जीव को एक गिने, बहिरात्म तत्त्व मुधा है। जो निज आत्मा की और शरीर के अनन्त पुद्गलों की सत्ता को एक मानता है, वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है।

आचार्यों ने पन्ने–पन्ने पर इसी वस्तुस्वरूप की घोषणा की है। समयसार में कहा है — 'प्रत्येक द्रव्य अपने में अन्तर्मग्न रहनेवाले अनन्त धर्मों के चक्र को, समूह को स्पर्श करते हैं, तथापि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करते हैं।'

द्रव्य–गुण की स्थिति अनादि–अनन्त है; पर्याय की स्थिति एक समय की है। द्रव्य–गुण–पर्याय भिन्न–भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। द्रव्य–गुण का तादात्म्यसिद्ध –सम्बन्ध है, वे कभी पृथक नहीं हो सकते।

द्रव्य और सत्ता (गुण–पर्याय, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य) में प्रादेशिकभेद नहीं है, समझाने के लिये अतद्भाविकभेद है। वास्तव में द्रव्य और सत्ता अभेद ही है। जो भेद को ही देखता रहता है, उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। जो भेद को गौण करके, अभेद का आश्रय करता है, उसी समय दुःख का अभाव होकर, सुख की प्राप्ति हो जाती है।

सार यह है कि —

1. 'प्रत्येक द्रव्य अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय, अनन्त अर्थपर्यायों व उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसहित होने

यदि परद्रव्य का ग्रहण–त्याग आत्मा के हो, तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता–हर्ता हो जाए परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिए आत्मा, अपने भाव रागादिक है, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

से, स्वभाव से सिद्ध होने से सत् है' — ऐसा जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में आया है।(**शब्दसमय**)

2. इसी प्रकार पदार्थ हैं, यही विश्व की व्यवस्था है।(**अर्थसमय**)
3. 'प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित होने से स्वभाव से सिद्ध होने से सत् हैं' — ऐसा जानकर, अपने सत् का अनुभव करना।(**ज्ञानसमय**)

जिनोक्त सिद्धान्तों का रहस्य जानने का प्रयोजन, मात्र ज्ञानसमय की प्राप्ति होना ही है। यदि अपना अनुभव नहीं किया तो प्रत्येक सत् की जानकारी निरर्थक ही है, मात्र शब्दों तक ही है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 98 पर)*

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 6-6-94

क्या है समयसार ?

'समयसारशास्त्र' की रचना आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र से आने पर की है। जिसमें नौ पदार्थो का वर्णन है, पूर्ण जैनशासन का सार है। इस अलौकिक शास्त्र में आचार्य जो कुछ कहना चाहते हैं, वह '**समयसार**' शब्द में आ गया।

समय, अर्थात् जीवतत्त्व; सार अर्थात् द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म से रहित। द्रव्यकर्म-नोकर्म में अजीवतत्त्व आये और भावकर्म में आस्रव-बन्ध, पुण्य-पाप आये। यह तो नास्ति से अर्थ हुआ। अस्ति से सार का अर्थ — एकदेशसार, अर्थात् संवर-निर्जरा, और पूर्णसार, अर्थात् मोक्ष; इस प्रकार 'समयसार' शब्द में नौ पदार्थ आ गये।

'समयसार' में कहना क्या चाहते हैं ? — मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व नहीं हूँ। जिस समय ऐसा जाना, उसी समय आस्रव-बन्ध उत्पन्न नहीं होंगे, संवर-निर्जरा की प्राप्ति होकर, क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी।

आज तक समयसार का रहस्य क्यों नहीं जाना ? अजीवतत्त्व को अपना मानने के कारण।'मैं भूल स्वयं के वैभव को, पर ममता में अटकाया हूँ।'

सर्वज्ञदेव ने वस्तु की अनादि-अनन्त समय की पर्यायें जैसी जानी हैं, उनका क्रम नहीं बदलता। अनादि-अनन्त काल का जितना समय है, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। वस्तु स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से प्रत्येक समय की पर्यायरूप परिणमन करती हैं, इस क्रम से जितने समय हैं, उतनी ही पर्यायें हैं। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दूँ तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन को नहीं मानता है। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

मङ्गल समर्पण

सर्व कार्य जैसे यह चाहे, वैसे ही हों; अन्यथा न हो, तब यह निराकुल रहे परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिए अपने रागादिक दूर होने पर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

जीवतत्त्व कैसा है ? मुझ जीवतत्त्व में द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्म तो हैं ही नहीं; संवर–निर्जरा–मोक्षरूप शुद्धपर्यायों का भी मुझ आत्मा में प्रवेश नहीं है। मुझ आत्मा कैसा है ? अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि–निधन वस्तु है। पर्याय का मुझ आत्मा में प्रवेश नहीं है। जैसे जल में पानी का प्रवेश नहीं होता, ऊपर–ऊपर ही तैरता है। मुझ जीवतत्त्व अनादि–अनन्त अपना साथी है। मुझ जीव के अतिरिक्त विश्व में मेरा कुछ भी नहीं है। अब भी शरीरादि परद्रव्यों से रंचमात्र सम्बन्ध नहीं; मानता है तो माने, नहीं तो निगोद तैयार है। सुबह से शाम तक का कार्य, पुद्गल का है, आत्मा से सम्बन्ध नहीं। ज्ञायक न रहकर कुत्ते की भाँति उनका कर्ता बनकर, भौंकता रहता है, दु:खी होता है। पर को आज तक स्पर्श ही नहीं किया, करने की तो बात दूर। करना क्या ? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — एक क्षण के लिये ऐसा माना, उसी समय दु:खों का अभाव।

आप सब जिम्मेदार हैं। निर्णय होना चाहिए। हमने आज तक उधार काम नहीं किया। व्यापार भी किया तो मुनाफा नगद, उधार नहीं बेचा। चट सौदा, चट दाल, चट मँगनी, पट ब्याह। इतने साल हो गये रटते–रटते मैं जीवतत्त्व हूँ – जीवतत्त्व कौन है ? कैसा है ? यह जाना नहीं तो पागल–पागल–पागल–शराबी–शराबी–कुत्ते की पूँछ टेढ़ी की टेढ़ी।

अरे ! इस वस्तुस्वरूप के तो अभ्यास में ही इतनी शान्ति है, परिणमन हो जाये तो कहना क्या ? जीवतत्त्व प्रकाश में कैसे आये ? अरे ! अपनी अनुभूति से चकाचक होता है। किस प्रकार ? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — ऐसा निर्णय होते ही, अपनी अनुभूति होते ही, निज जीवतत्त्व चकाचक प्रकाशमान होता है। शरीर की क्रिया व शुभभाव में नहीं। जैसे एक रत्ती सोने का ज्ञान होते ही, विश्व के सोने का ज्ञान हो जाता है; इसी प्रकार स्वभाव पर दृष्टि आते ही, सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक का पता चल जाता है, किसी से पूछने की जरूरत नहीं है। अपना अनुभव होते ही पता चलता है कि मैं चित्स्वभावाय भावाय हूँ। ज्ञान–दर्शन–चारित्र आदि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड, ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ — ऐसा पता चला और चित्स्वभावाय भावाय में पूर्ण स्थिर होकर 'सर्वभावान्तरच्छिदे', अर्थात् मोक्षतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

(श्री समयसार, प्रथम कलश पर प्रवचन)

क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान का स्वीकार है। इसमें श्रद्धा-ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ है। जब अनादि-अनन्त अखण्ड-द्रव्य को प्रतीति में लेते हैं, तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का मूल तो वही है।

दिनाँक 10-6-94

तब होती है अक्षय सुख की प्राप्ति

कब तक मुझ आत्मा को धर्म की प्राप्ति नहीं होगी? जिनवाणी का रहस्य जानने पर भी, कहना आने पर भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। आखिर क्यों? आत्मा और ज्ञान का तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध है। निज आत्मा, ज्ञान से कभी पृथक हुआ नहीं, तो फिर जीव को ज्ञान की उपासना की शिक्षा क्यों दी जाती है? गुरु उत्तर देते हैं? ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्म, ज्ञान के साथ तादात्म्य तो है, लेकिन आज तक एक क्षण भी ज्ञान का सेवन ही नहीं किया,आज तक किसकी उपासना करता रहा? राग और अजीवतत्त्व को ही अपना मानता रहा। मैं आत्मा हूँ; शरीर नहीं हूँ — ऐसा कहने पर भी, पढ़ाने पर भी अप्रतिबुद्ध क्यों है? अब तक शरीर से, राग से सर्वथा भिन्न, निजात्मा का अनुभव नहीं किया; इसलिए अप्रतिबद्ध ही है।

प्रत्येक द्रव्य का अपने अनन्त गुणों के साथ तादात्म्य है। जीव का ज्ञान-दर्शनादि गुणों के साथ; पुद्गल का स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि के साथ; धर्म का गतिहेतुत्व आदि के साथ; अधर्म का स्थितिहेतुत्व आदि के साथ; आकाश का अवगाहनहेतुत्व आदि के साथ; काल का परिणमनहेतुत्वादि के साथ तादात्म्य है। क्यों है? प्रत्येक वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव में क्यों का प्रश्न ही नहीं है। जब तक स्वभाव को नहीं पहचानता, तब तक दु:खी रहता है, ज्ञानस्वरूप आत्मा उपासित नहीं होता, जन्म-मरण का अभाव नहीं होता, अप्रतिबुद्ध, अर्थात् अज्ञानी ही रहता है। ज्ञानी कब बनेगा? जिस समय शरीर को भिन्न जाना, उसी समय ज्ञानी बन गया, एक समय की देरी नहीं लगेगी।

जब तक द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म में 'यह मैं' और मेरे में, द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म हैं — ऐसी बुद्धि रहेगी, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। सारा विश्व सुखी कैसे हो? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जो शरीर को अपना मानता है, वह अजैन है; जो शरीर को अपना नहीं मानता, वह जैन है। शरीरादि परवस्तु, संसार नहीं है, उनमें अपनेपने की मान्यता निगोद है और शरीरादि परवस्तुओं से सर्वथा भिन्न 'यह मैं' ऐसी मान्यता, मोक्ष है। शरीर से भिन्न अपना अनुभव हो सकता है। यदि लक्षणों से दोनों को भिन्न-भिन्न जाने। मुझ आत्मा, चेतन; शरीर, जड़; मैं अरूपी-शरीररूपी; मैं असंख्यात प्रदेशी-शरीर के

परमाणु एक-एक प्रदेशी; मेरा एक आकार-शरीर के अनन्त आकार। इस प्रकार मुझ आत्मा और शरीर की जाति अलग, विरादरी अलग, लक्षण अलग - फिर आत्मा और शरीर को एक मानकर मैं शरीर हूँ — इस भ्रान्ति का स्थान ही कहाँ रहा?

क्या समझना? मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ, मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है; आँख-नाक-कान औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है; चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है; सर्वज्ञस्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मुझ आत्मा ही अनुपम है; मुझ आत्मा के अलावा इस विश्व में जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त है, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं - इनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही यह आत्मा, प्रतिबुद्ध होता है, अविचल अनुभूति को प्राप्त करता है, अनादि जन्म-मरण का अभाव होकर, अक्षय मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

(श्री समयसार, गाथा 19 का रहस्य)

सर्व कार्य जैसे यह चाहे, वैसे ही हों; अन्यथा न हो, तब यह निराकुल रहे परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिए अपने रागादिक दूर होने पर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है।

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 17-6-94

इसी समय करो निर्णय : मैं ज्ञायक हूँ

1- एक तरफ अकृत्रिम जिनचैत्यालय निजात्मा और दूसरी तरफ सारी दुनिया- इस वस्तुस्थिति को भूलकर, शरीर ही अपने को मानने के कारण मैं चौबीस घण्टे निगोद के टिकट पर स्वयं स्वर्ण अक्षरों में हस्ताक्षर कर रहा हूँ। **वर्तमान में मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म, सच्चे-देव-गुरु शास्त्र का समागम और पूज्य गुरुदेव का सुयोग होने पर भी, अपने को नहीं समझा तो पुन: यह अवसर मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव है।**

2- करना क्या है? मैं साक्षात् भगवान हूँ, मात्र इतना निर्णय करना है। कैलाशचन्द्र के साथ मेरा किसी भी अपेक्षा, किसी भी प्रकार सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। 'जीव जुदा, पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार; अन्य कुछ व्याख्यान जो, सब

याही का विस्तार।' आज तक जिसे भी धर्म की प्राप्ति हुयी है, वर्तमान में हो रही है और भविष्य में होगी — इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है; अत: आज, अभी, इसी समय यह निर्णय करना कि मैं ज्ञायक हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ।

3- मेरी समस्त पर्यायें, मेरे द्रव्य-गुण में से ही होती हैं, परद्रव्य से, शरीर से, कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान, सुख, सम्यक्त्व आदि निर्मलपर्यायें और मिथ्यात्व, शुभाशुभ आदि विकारीपर्यायें भी मुझ आत्मा की ही हैं; परद्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है - ऐसा निर्णय करना। इसका फल, निगोद का अभाव, मोक्ष की प्राप्ति।

4- आज तक यह निर्णय क्यों नहीं हुआ? प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है, इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन जानकर बहुत किया है किन्तु उसका फल, संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है। उसका उपदेश तो कहीं-कहीं पाया जाता है। अत: उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल, मोक्ष जानकर शुद्धनय का उपदेश प्रधानता से दिया है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है। स्वयं को जाने, बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक निजात्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।

(श्री समयसार, गाथा 11 का भावार्थ)

5- जब तक ऐसा निर्णय न हो कि मैं ज्ञायक हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ — तब तक क्या करे? श्री समयसार, गाथा 12 के भावार्थ में कहा है कि जब तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो, तब तक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है — ऐसे जिनवचनों को सुनना, जिनवचनों को धारण करना, अर्थात् ऐसा ही है, जिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन, अर्थात् उपादानरूप निजात्मा, निमित्तरूप जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है।

6- व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना क्या है? गुरु से सुना कि मैं ज्ञायक हूँ; शरीर नहीं हूँ — ऐसा ही निर्णय करके, अपना आश्रय लेना।

अपना आश्रय होने पर, जब तक जिनवचनों को सुनना आदि पूर्व कथित कार्य तथा विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवृत्त करना तथा औरों को प्रवृत्त कराना। इससे ऐसा नहीं समझना कि जीव

जो जीव, स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीति करके, ज्ञानभावरूप परिणत होता है, उसे ही क्रमबद्धपर्याय का सच्चा स्वरूप ख्याल में आता है।

पर का कार्य कर सकता है या शुभभाव से शुद्धि की बढ़ोतरी होती है लेकिन ऐसा समझना कि साधकदशा में भूमिकानुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहता।

7- अब जो जीव इस साधकदशा के स्वरूप को नहीं जानते और ज्ञानस्वरूप आत्मा का आश्रय नहीं लेते और शुभभाव व शरीर की क्रिया में पागल रहते हैं, वे संसार में डूबते हैं। अथवा ज्ञाननय के पक्षपाती बनकर, मात्र आत्मा-आत्मा की बात करते हैं, स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते, शुभ को हेय समझकर, मात्र अशुभ में प्रवर्तते हैं — वे भी संसार में डूबते हैं।

मोक्षमार्गी जीव, शुभ-अशुभ दोनों को हेय जानकर, स्वरूप में पूर्ण स्थित होने का पुरुषार्थ करते रहते हैं, वे ही संसार से निवृत्त होते हैं।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 19-6-94

द्वादशांग का सार

जिस समय जो जीव जैसा भाव करता है, वह उस समय वही है क्योंकि "जैसी मति, वैसी गति" यहाँ जीव अकेला आया है, अकेला जायेगा। स्वयं साक्षात् भगवान है, उसकी ओर दृष्टि न करके जो पदार्थ जानता-देखता है, उन्हें मिलाने-हटाने में लगा रहता है और चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है। इस पर्याय में तो स्वयं को अवकाश है कि स्वयं को पहचान कर, मोक्षमार्ग प्रारम्भ कर सके। उसके लिये क्या करना?

एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता - ऐसा निर्णय होते ही धर्म की प्राप्ति। दूसरे द्रव्य को अपना मानते हैं; इसीलिए संसार में धक्के खा रहे हैं। जब जाना कि प्रत्येक द्रव्य का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पृथक-पृथक होने से एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, उसी समय झगड़ा समाप्त। द्रव्य अपने गुण-पर्यायों को ही स्पर्श करता है; दूसरे को नहीं। अपने अन्तर में भी कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि हर द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। हर गुण में, हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक द्रव्य-गुण की ऐसी ही मर्यादा है। सारे विश्व का कार्य व्यवस्थित है। जैसा केवलज्ञानी के

'यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करें, बाह्य सामग्री को मिलावे, तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए, सो है नहीं; सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।'

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

केवलज्ञान में आया, वैसा ही नियम से हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा। सुख, आत्मा में है, आत्मा में से प्रगटेगा; बाहर से नहीं। पर से सुख की, पर में कुछ करने की बात क्यों आती है ? अपने को शरीर ही मानने के कारण, अपनी मूर्खता के कारण, पर के करने-धरने की बुद्धि से निरन्तर आकुलित रहते है। अजीव, हमारे अनुसार परिणमन करता नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य, अपने गुण पर्यायों का ही स्पर्श करता है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का सर्वथा स्पर्श नहीं करता। यह बात आज नक्की करनी कि कोई परवस्तु अपने साथ गयी नहीं, आयी नहीं, जायेगी नहीं, फिर मैं मूर्ख क्यों बनूँ ?

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय, क्रमबद्ध ही होती है क्योंकि 'अनादि-निधन वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।' — ऐसा जानते-मानते ही सुखी।

उत्पाद, उत्पाद से है, व्यय या ध्रुव से नहीं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों का समय एक है; एक दूसरे के कारण नहीं। जैसे सम्यक्त्व का उत्पाद, मिथ्यात्व का व्यय, श्रद्धागुण ध्रौव्य व दर्शनमोह का उपशम निमित्त-ये चारों बातें एक साथ होती है लेकिन एक दूसरे के कारण नहीं। दर्शनमोह के उपशम व सम्यक्त्व का तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ही सर्वथा भिन्न है। श्रद्धागुण त्रिकाल है। सम्यक्त्व की पर्याय एक समय की है; मिथ्यात्व अभावरूप पर्याय है। अभाव में भाव की उत्पत्ति नहीं होती — इस प्रकार चारों स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में लगायें तो धर्म की प्राप्ति नियम से होगी।

प्रत्येक पर्याय अपने जन्मक्षण में ही होती है। द्रव्य-गुण अनादि-अनन्त और प्रत्येक पर्याय भी जहाँ पड़ी है, वैसी की वैसी ही है; अत: पर्याय भी अनादि-अनन्त है। एक समय की पर्याय को प्राप्य -विकार्य-निर्वत्य, तीन नामों से कहा — जैसे सम्यक्त्व, श्रद्धागुण में था, तो आया; अतः सम्यक्त्व की पर्याय को प्राप्य कहा; पूर्व पर्याय का अभाव करके आया; अतः सम्यग्दर्शन को ही विकार्य कहा; पहले नहीं थी, नवीन उत्पन्न हुयी; अतः इसी पर्याय को निर्वर्त्य कहा। इस प्रकार जो, पर्याय, जिस द्रव्य-गुण में से, जिस पर्याय का अभाव करके, जिस समय आनी है, आयेगी -फिर दुख कैसे रह सकता है ?

पर्याय और ध्रुव के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। प्रमाण की अपेक्षा बात करते हैं तो

वस्तु की समस्त पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती है, उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और ज्ञानस्वभाव की सन्मुखतारूप वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर जीव, अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर, मात्र ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

द्रव्य व पर्याय, अभेद हैं; आश्रय की अपेक्षा बात करते हैं तो द्रव्य, आश्रय करने योग्य व पर्याय, आश्रय करनेवाली होने से दोनों की पृथकता बतलायी है।

निजात्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है; शुभभाव, शरीर की क्रिया से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दर्शन कैसे हो? अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। इस कार्य में एक समय लगता है, सालों का काम नहीं है। 'जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर-थर काँपते हैं।'

द्वादशांग का सार मात्र इतना ही है कि मैं भगवान हूँ। मुझ भगवान आत्मा का अजीवतत्त्व से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जैसे, पानी में तेल का प्रवेश नहीं है; उसी प्रकार अजीव का मुझ आत्मा में प्रवेश नहीं है। — ऐसा जानते-मानते ही धर्म की प्राप्ति।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 23-6-94

मात्र इतना ही प्रयोजनभूत.......

प्रयोजनभूत क्या है? मैं जीवतत्त्व हूँ; मैं अजीवतत्त्व नहीं हूँ - बस मात्र इतना ही निर्णय करना प्रयोजनभूत है। शेष 11 अङ्ग नौ पूर्व का ज्ञान, शास्त्र-स्वाध्याय आदि सब अप्रयोजनभूत है। मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — ऐसा रटता रहे, अपना आश्रय न ले — यह भी अप्रयोजनभूत है। सारे शास्त्र पढ़ लिये, किन्तु अपना निर्णय नहीं किया - उसे शास्त्र में शराबी कहा है।

जिस प्रकार शरीर, धन, मकान, सोना, चाँदी आदि अजीवतत्त्व से अपना सम्बन्ध नहीं है; उसी प्रकार अजीव के लक्ष्य से होनेवाली अपनी पर्याय से भी सम्बन्ध नहीं है, वह अपना स्वभाव नहीं है। अपना जीवन, अमूल्य मनुष्यभव व्यर्थ जा रहा है। अपना आश्रय करने योग्य ज्ञान का क्षयोपशम तो अपने को प्रगट है, परन्तु अपने पास चार पैसे है, उसे अच्छे काम में लगा दो या बुरे काम में लगा दो; इसी प्रकार अपनी ज्ञान की पर्याय में जो पदार्थ निमित्त पड़ते हैं, उनमें किसी को मिलाने-हटाने में लगा रहने से संसार में भटकता फिर रहा हूँ। क्यों फिर रहा

सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं तथापि वे (सब द्रव्य) परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते।

- आचार्य कुन्दकुन्द

हूँ? स्वयं एक आत्मा हूँ और अनन्त पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप कैलाशचन्द्ररूप शरीर, मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, लेकिन अपना पता नहीं होने से इस शरीर ही में 'यह मैं हूँ' — ऐसी अहंबुद्धि होती है। इसका फल, चारों गतियों में घूमकर निगोद है।

जो वर्तमान में दुःखी है, वह निगोद में ही है; जो सुखी है, वह मोक्ष में है। दुःख का अभाव कैसे हो? कैलाशचन्द्र से सर्वथा भिन्न, मैं ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ — ऐसा श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करते ही दुःख का अभाव, सुख की प्राप्ति हो जाती है, मनुष्यभव सफल हो जाता है। कैलाशचन्द्र से सर्वथा भिन्न निजात्मा का श्रद्धान हो कैसे? मुझ आत्मा चेतन है; कैलाशचन्द्र जड़ है। मुझ आत्मा अरूपी है; कैलाशचन्द्ररूपी है। मुझ आत्मा असंख्यात प्रदेशी है; कैलाशचन्द्र में अनन्त पुद्गल परमाणु एक-एक प्रदेशी है। मुझ आत्मा का एक आकार है; कैलाशचन्द्र के अनन्त आकार हैं — इस प्रकार मुझ आत्मा और कैलाशचन्द्र के भिन्न-भिन्न लक्षण जाने तो नियम से कैलाशचन्द्र से सर्वथा भिन्न, निजात्मा का श्रद्धान होकर मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जायेगा। यह साँप है, काट खायेगा तो मर जाऊँगा — ऐसा निर्णय होते ही वहाँ खड़ा रहेगा क्या? जब यह जाना कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो आत्मा हूँ, फिर शरीर को अपना मानेगा क्या? यदि मानता है, निगोद तैयार है। यदि स्वयं को समझ लिया तो मोक्ष की प्राप्ति।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 24-6-94

कठिन तो है परन्तु ......

मैं ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ, इस बात को भूलने के कारण, हर समय जीव दुःखी हो रहा है। संयोगों के कारण नहीं; संयोगों में अपनेपने की बुद्धि के कारण दुःखी है। छहढ़ाला में नरकों के दुःखों का वर्णन करते हुए वहाँ की भूमि, नदियों, बाहरी प्रतिकूल संयोगों का वर्णन किया है। क्यों किया है? क्या वे भूमि व नदियाँ या बाहरी संयोग, दुःख के कारण हैं? नहीं — संयोगों से नारकी दुःखी नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञायकभाव का, अर्थात् वीतराग-स्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय, स्वसन्मुख पुरुषार्थ से हो सकता है। सम्यक् पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना, मोक्षमार्ग की क्रमबद्धपर्याय नहीं होती।

अजीवतत्त्व में अपनेपने की मान्यता दु:ख का कारण है। कहना क्या चाहते हैं ? हे भव्य ! यदि अब वर्तमान में मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म मिलने पर भी अपने को नहीं समझा, शरीर को ही अपना-मानता रहा तो तुझे नरक में जाकर ऐसे-ऐसे दु:ख उठाने पड़ेंगे। लेकिन क्या विडम्बना है-

धन कन कंचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान॥

लेकिन साथ ही आचार्यों ने यह भी कहा है —

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहि॥

सम्यग्ज्ञान सुलभ किस प्रकार है ? अरे ! बन्दर की उलझन मात्र इतनी ही है कि वह मुठ्ठी नहीं खोलता; उसी प्रकार जीव की मूर्खता एक समय की है। मूर्खता क्या ? शरीर को अपना माना। करना क्या ? **तीर्थङ्कर के समान पूज्य गुरुदेव का वर्तमान में समागम मिला है, महानभाग्योदय से यह अमूल्य अवसर पाया है। अत: यह निर्णय करना है कि मैं ज्ञायक भगवान हूँ, शरीर नहीं हूँ।**

इस अमूल्य अवसर में भी जो जीव, सात व्यसनों में ही पागल है, निरन्तर अशुभकार्यों में, विषय-कषायों में ही पागल है, वह उस समय नारकी ही है क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति'। यदि ऐसे विषय कषायों के भावों के समय मध्यम परिणाम हुए, आयु बन्ध का समय हुआ तो नियम से नारकी आयु में ही जाना पड़ेगा, जहाँ निरन्तर मारकाट में ही जीवन बीतेगा क्योंकि 'जैसी गति-वैसी मति।' नरक में तो बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, बहुत यातनायें सहनी पड़ती हैं, हमें तो नरक में नहीं जाना। तो ठीक है, अशुभभावों का सेवन मत कर; अपने स्वभाव का आश्रय ले। अपने स्वभाव का आश्रय कैसे लूँ ? जैसे, सोने में खोट है, खोट को सोना मानोगे क्या ? इसी प्रकार एक स्वयं आत्मा और अनन्त पुद्‌गल परमाणुमय शरीर-इनसे एक पिण्ड बन्धानरूप है। इनसे से मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ — ऐसा मानते ही स्वभाव का आश्रय हो जाता है। सम्बन्ध क्यों नहीं ?

1. सारा विश्व कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है। शरीर निरन्तर बदल रहा है। कौन बदल रहा है ? अनन्त परमाणु स्वयं परिणमित हो रहे हैं।

अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।
– आचार्य कुन्दकुन्द

2. एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य, अपने गुण-पर्याय का ही स्पर्श करता है।

3. जितना रूपीकार्य दिखता है, उसका कर्ता, सर्वथा पुद्गल ही है।

4. संसार में भी मैं अकेला हूँ, मोक्ष में भी जीव अकेला है, क्योंकि प्रत्येक जीव, त्रिकाल अपनी ही सत्ता में रहता है।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 8-7-94

ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं

जिसे अपना कल्याण करना हो, उसे सर्व प्रथम यह निर्णय करना चाहिए कि मैं जीवतत्त्व हूँ। मुझ जीवतत्त्व व सिद्धभगवान में किसी भी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। मेरी पर्याय में निश्चय से मति-ज्ञानादिक है और सिद्ध के निश्चय से केवलज्ञान है, लेकिन द्रव्यकर्म-नोकर्म तो पुद्गल से उत्पन्न हुए हैं; अत: संसारी के भी इनका सर्वथा भिन्नपना है। अजीवतत्त्व में कुछ भी करने में कोई भी आत्मा समर्थ ही नहीं है। जीव, केवल भाव कर सकता है — शुभ-अशुभ व शुद्ध। अज्ञानी की मर्यादा, शुभाशुभभाव तक है, और ज्ञानी की मर्यादा, शुद्धभाव तक है। शरीर, स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, मकान, गाड़ी आदि अजीव-तत्त्वों में कुछ भी करने में मैं त्रिकाल में समर्थ नहीं हूँ। सुबह से शाम तक जितना रूपीकार्य दिखायी देता है, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह सर्वथा पुद्गल का ही खेल है। मैं शरीर नहीं हूँ; मैं जीव हूँ। कहने में तो ऐसा ही आता हूँ कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं पिता हूँ आदि-आदि, तो अब क्या करें ?

मैं कैलाशचन्द्र हूँ - ऐसा व्यवहार से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। मैं ज्ञायक हूँ, जीवतत्त्व हूँ, कैलाशचन्द्र नहीं हूँ, पिता नहीं हूँ, पति नहीं हूँ — ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

क्यों अङ्गीकार करना? क्योंकि जो व्यवहार में सोता है, अर्थात् मैं

ज्ञान के पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करनेवाले की क्रमबद्धपर्याय निर्मल नहीं होगी, किन्तु विकारी होगी। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो, वह यही है।

कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसी श्रद्धा छोड़कर, मैं ज्ञायक हूँ — ऐसी श्रद्धा करता है, वह योगी बन गया, उसी क्षण अपने स्वभाव में स्थित होकर अतीन्द्रिय सुख का वेदन करता है। अपने में पूर्ण स्थिति करके अक्षय मोक्षसुख को प्राप्त करता है। ऐसा सुअवसर मिलने पर भी, अर्थात् जिनकुल, जिनवाणी का श्रवण करने पर भी, जो अपना कल्याण नहीं करता, प्रमाद से ही काल गँवाता है, वह जिनवाणी सुनने लायक नहीं है; वह पद-पद पर धोखा खाता है; उसका सुलटना दुर्निवार है; यह उसका हरामजादीपना है। अत: सावधान! सावधान!

अब क्या सावधानी करनी है? शरीर को अपना मानकर हजार वर्षों तक जिनवाणी सुनता रहे - कभी कल्याण नहीं हो सकता; अत: आज ही-अभी यह निर्णय करना — मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ।

शरीर से, शरीर की क्रियाओं से, अत्यन्त भिन्न परपदार्थों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, फिर उनके ग्रहण-त्याग का प्रश्न कहाँ से आया? जब तक पुद्‌गलद्रव्य को अपना मानकर मिलाने व हटाने में लगा रहेगा, तब तक सुखी नहीं होगा; दु:खी ही रहेगा। क्यों रहेगा दुखी? वस्तुस्वरूप से विपरीत अभ्यास के कारण। विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं। मैं जीवद्रव्य हूँ। मुझ जीव का अन्य जीवों से , पुद्‌गलों से किसी भी अपेक्षा, किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। आज तक शरीरादि पुद्‌गल अपने बने नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं। जैसा भगवान कहते हैं, वैसा माने और उसी क्षण सुख की प्राप्ति न हो — ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है।

शरीर का रहना, न रहना, रुपया-पैसा आना या चले जाना-सर्वथा पुद्‌गल का खेल है। यह निर्णय करना तो एक सैकेंड का कार्य है। होता क्यों नहीं? चौबीस घण्टे अजीवतत्त्व को अपना मानने के कारण। पर मुझे राग-द्वेष कराता है, पर के कारण राग-द्वेष माननेवाला त्रिकाल में राग-द्वेष का अभाव नहीं कर सकता।

संसार से पार होने का उपाय क्या है? जैसे, राजा और रङ्क मनुष्यपने की अपेक्षा समान है; उसी प्रकार जीवत्त्वपने की अपेक्षा मुझ आत्मा और सिद्ध भगवान में कोई अन्तर नहीं है। शक्ति अपेक्षा सिद्ध व संसारी समान हैं; पर्याय में अन्तर है। जैसे सिद्ध भगवान, द्रव्य अपेक्षा है, वैसा ही मैं हूँ। जो कार्य सिद्ध भगवान करते हैं, वही मेरा कार्य हैं। — एक समय ऐसा मानते ही पर्याय में भी सिद्ध बन जाता है।

जो द्रव्य, किसी द्रव्य में और पर्याय में वर्तता है, वह अन्य द्रव्य में तथा पर्याय में बदलकर अन्य में नहीं मिल जाता। अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वस्तु, अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है? अर्थात् नहीं करा सकती है।

– आचार्य कुन्दकुन्द

शरीर में बाल्यावस्था, जवानी व वृद्धावस्थारूप परिणमन, जड़ का स्वयं का प्राकृतिक परिणमन है, मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं — ऐसा मानते ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

148 कर्मप्रकृति कार्माणवर्गणा का प्राकृतिक परिणमन है, आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। लोक में से किसी द्रव्य का कभी अभाव नहीं होता; अतः अपने को समझ लिया तो सुखी होकर रहेगा और अपने को नहीं समझा तो दुःखी था, दुःखी ही रहेगा। करना क्या? 'जड़-चेतन की सब परिणति प्रभु, अपने-अपने में होती है। अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है।'

— ऐसा निर्णय होते ही दृष्टि, स्वभाव पर आ जाती है, अपना पता चल जाता है, सुखी हो जाता है।

जिसे उपादान की श्रद्धा हो, उसे निमित्त की शङ्का नहीं होती और जो निमित्त की शङ्का में अटक गया है, उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। उपादान, निश्चय है और निमित्त, व्यवहार है, दोनों की सन्धि है।

मङ्गल समर्पण

दिनाँक 11-7-94

क्या है संसार का मूल ?

मैं चारों गतियों में परिभ्रमण क्यों कर रहा हूँ ? मैं संसार में कब तक भटकता रहूँगा ? इस संसार के अभाव का उपाय क्या है ? समस्त जिनवाणी में मात्र इन्हीं प्रश्नों के उत्तर नौंध हैं। मैं स्वयं जीव हूँ, यह तो पता नहीं, शरीर को ही अपना मानता है; इसीलिए संसार में धक्के खा रहा है। यह विपरीत मान्यता ही मिथ्यात्व है। शरीर आदि परपदार्थों को अपना माननेरूप मिथ्यात्व ही संसार का मूल है। जब जीव, मिथ्यात्वरूप परिणमता है तो कार्माणवर्गणा में उस समय दर्शनमोह के उदयरूप अवस्था होती है, लेकिन दर्शनमोह का उदय स्वयं स्वत: मेरे मिथ्यात्वरूप परिणमित नहीं होता परन्तु मिथ्यात्व की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस पर आरोप आ सके, उस दर्शनमोह के उदय को निमित्तकारण कहते हैं।

मिथ्यात्व आखिर है क्या ? जैसा है, वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है, वैसा मानता है — यही मिथ्यात्वभाव है। अब प्रश्न उठता है — स्वयं कैसा है ? स्वयं आत्मा है, परन्तु अपने को शरीर मानता है। शरीर मानने से क्या झगड़ा खड़ा हुआ ? जब शरीर को अपना माना तो सारी दुनिया को अपनी मानता है। उसमें किसी को इष्ट, किसी को अनिष्ट मानकर निरन्तर एक-एक समय करके राग-द्वेष की अग्नि में जलता हुआ चारों गतियों में भटकता फिर रहा है।

वर्तमान में सुयोग प्राप्त होने पर क्या समझूँ कि दु:खों से छुटकारा हो —

परद्रव्यों में 'यह मैं' — इसका नाम संसार है और परद्रव्यों से भिन्न 'यह मैं' — इसका नाम मोक्ष है। पर अपना है नहीं, बना नहीं, त्रिकाल में अपना नहीं बन सकता। मुझ जीव और शरीर के संयोगरूप जो-जो भी नाना प्रकार की अवस्थाएँ पर्यायें होती हैं, उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण करता है; स्व-पर का भेद नहीं कर सकता और जो भी पर्याय धारण करता है, उसी को आपरूप मानता है। पागल की भाँति। शरीर और आत्मा, सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु अज्ञान के कारण अज्ञानी, शरीर को अपना ही अङ्ग जानकर, शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में खेदखिन्न होता है। शरीर के कारण नहीं, अपनी मूर्खता के कारण। शरीर के रहने, न रहने में, उसकी किसी भी अवस्था में जीव, निमित्त भी नहीं है; उसमें निमित्त,

जो परद्रव्य है, वह ग्रहण नहीं किया जा सकता है और छोड़ा भी नहीं जा सकता; ऐसा ही कोई उसका (आत्मा का) प्रायोगिक (विकारीपर्याय) वैस्रसिक (स्वभाव) है।

– **आचार्य कुन्दकुन्द**

कर्म है। शरीर का मोटा, पतला, नष्ट होने व नवीन उत्पन्न होनेरूप विभिन्न अवस्थाएँ सर्वथा आहारवर्गणा का कार्य है; निमित्त उसमें कर्म है — मुझ जीव से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जिस जीव का जिस विधि से बाहरी रूप से जो संयोग होना है, उसमें हेर-फेर कोई नहीं कर सकता। एक बार ऐसा मानते ही जीवन में शान्ति आ जाती है। यहाँ रहते हुए ही यह बात समझनी पड़ेगी, वरना धक्के निश्चित हैं।

जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि सभी नियति है, उस ज्ञान में यह भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करना या राग-द्वेष करना मेरा कार्य नहीं है। इस प्रकार नियत का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' - ऐसा अहंकार दूर हो गया और ज्ञान, पर से उदासीन होकर, स्वभावसन्मुख हो गया।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

दिनाँक 24-7-94

इतना ही निर्णय करो

पात्र जीव को यह लगना चाहिए कि जिस अजीव को मैं अपना मानता हूँ, वह मेरा है नहीं, मेरा बनेगा नहीं; मैं ज्ञायक जीवतत्त्व हूँ,अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं। ऐसा न मानकर, अजीव में अपनेपने के कारण चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। नरक में नारकी दु:खी है, संयोग के कारण नहीं; अजीव में अपनेपने में कारण। बगैर बात के पागल है, चौबीस घण्टे यह पागलपन चलता है। इसी तरह सारा जीवन पूरा हो जाता है। करना क्या ? अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — यही समस्त शास्त्रों का सार है। सम्बन्ध क्यों नहीं है ? प्रत्येक द्रव्य अपनी सत्ता में रहता है। अपनी-अपनी सत्ता में रहते हुए कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है। यह जैनधर्म है। मुझे जैनधर्म मिला कब कहलायेगा ? इस रहस्य को जानकर, अपना अनुभव किया तो जैनधर्म का समागम हुआ कहलायेगा। वर्तमान में सर्व अनुकूलता, अर्थात् कषाय की मंदता, ज्ञान का क्षयोपशम और सच्चे गुरु का समागम मिलने पर भी नहीं समझा तो निगोद तैयार है। एक बार प्रयोग करके तो देखो। जिस समय अजीव को अपना नहीं माना, उसी समय सुखी।

मैं आत्मा, कर्ता; अजीवतत्त्व, मेरा कर्म; मैं आत्मा, कर्ता, शुभाशुभ विकारीभाव, मेरा कर्म - इस अनादिकालीन कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है ? अजीवतत्त्व को अपना मानने से आस्रव उत्पन्न होता है; जो

दु:खरूप है, दु:ख का कारण है। 'आस्रव दु:खकार घनेरे, बुधिवन्त तिनहें निर वेरे' कैसे अभाव हो आस्रव का? अजीव को अपना नहीं माना, आस्रव उत्पन्न नहीं होगा; संवर प्रगट होगा। मुझ आत्मा का ज्ञानदर्शनादि के साथ तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध है। **अर्थात्, कभी अभाव न होनेवाला सम्बन्ध है।** शरीरादि परपदार्थों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है– ऐसा मानते ही आस्रव का अभाव। मुझ आत्मा का शुभाशुभविकारीभावों के साथ संयोगसिद्धसम्बन्ध है। मुझ आत्मा, अबन्धस्वभावी है, क्रोधादि भाव, बन्धस्वभावी है – ऐसी पहचान हो तो स्वभाव पर दृष्टि आ जाती है। उसी समय कर्ता–कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है, मोक्ष का तिलक हो जाता है।

अजीव को अपना मानकर, अजीव का ही स्वयं को कर्ता–भोक्ता मानते है; इस उल्टी मान्यता का अभाव कैसे हो? 'इस जगत में वस्तु है, वह अपने स्वभावमात्र ही है।' अर्थात्, जीव, पुद्‌गल, धर्म–अधर्म, आकाश, काल – प्रत्येक वस्तु अपनी–अपनी सत्ता में ही रहती है — ऐसा जानकर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति होना, यह आत्मा है और क्रोधादि का होना / परिणमना, आत्मा नहीं; अनात्मा है। ज्ञानी की दृष्टि निरन्तर स्वभाव पर रहती है।

उसको, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव यथार्थ का नाम निश्चय और शुद्धपर्याय प्रगटी, उपचार का नाम व्यवहार– बस इतना निश्चय–व्यवहार ज्ञानी को होता है। पूर्णता नहीं होने से अभी भूमिकानुसार राग है लेकिन उसे हेय जानते है– अपना नहीं मानते। जिसको सम्यग्दर्शनादि अपना मालूम पड़ता है, उसे विकारीभाव अपना मालूम नहीं पड़ता। क्यों? क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव पर है; स्वभाव में विकार नहीं, स्वभाव के आश्रय से विकार नहीं; अत: विकार को दुष्ट, दु:खरूप, प्रमाद–चोर, मोक्ष का घातक मानता है। उसका तिरस्कार करके, अर्थात् स्वभाव में विशेष स्थिरता करके, आगे बढ़ जाता है।

1– कुछ करने–धरने की बात तब आती है, जब शरीर को अपना माना।

2–विभाव आत्मा से भिन्न है। वह वस्तुरूप है या अवस्तुरूप है? अवस्तुरूप हैं – किस प्रकार? समयसार गाथा 61, 181 से 183 पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन पढ़ें।

3– राग–द्वेष कहाँ है, किस वस्तु में है?

समयसार, गाथा 361 की टीका के पश्चात् – प्रश्न व उत्तर। कलश –218 देखें।

सर्व कषायों का जिस–तिस प्रकार से नाश करनेवाला जो जिनधर्म, अर्थात् जैनधर्म।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

दिनाँक 26-7-94

वस्तु का स्वचतुष्टय

मैं ज्ञायक हूँ। जानने के अतिरिक्त आज तक मैंने कोई कार्य किया नहीं, करता नहीं और कर नहीं सकूँगा। पर का करने की तो बात ही दूर रही, क्योंकि परद्रव्य का व मुझ आत्मा का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा भिन्न है। अज्ञानी की मर्यादा शुभाशुभभाव तक है। अज्ञानदशा में मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं उठता-बैठता हूँ आदि भावों का मैं कर्ता हूँ परन्तु वे विकारीभाव भी मुझ आत्मस्वभाव में नहीं। जिसको शरीर व राग से सर्वथा भिन्न निजात्मा का अनुभव हुआ है, वह अशुभ तो दूर, शुभभाव को भी - पूजा, व्रत, उपवास आदि के भाव को, देव-गुरु-शास्त्र के राग को अशुचि, अपवित्र, घिनावने जानता है, मोक्ष का घातक जानता है क्योंकि ये भाव, स्वभाव से सर्वथा विपरीत हैं, शान्ति के दुश्मन हैं। शुभाशुभभावों से रहित निजात्मा का अनुभव कैसे हो? आस्रव अशुचि, अपवित्र, घिनावना है और निज भगवान आत्मा सदा ही अति निर्मल, शुचि, पवित्र, उज्ज्वल है — ऐसा जानते ही आत्मा, क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है।

अब करना क्या? प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय से है, परचतुष्टय से नहीं।

प्रश्न- मुझ आत्मा का स्वचतुष्टय क्या है? इसको जानने से लाभ क्या है?

1- स्वद्रव्य- मुझ आत्मा, अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड, यह **स्वद्रव्य** है। इसकी अपेक्षा मुझ आत्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात - ये सब द्रव्य भी अनन्त-अनन्त गुण-पर्यायों के पिण्ड-ये परद्रव्य हैं। इन सब परद्रव्यों से मुझ स्वद्रव्य का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही धर्म की प्राप्ति हो जाती है। इतना जानकर भी अपनी ओर दृष्टि नहीं दी और पर से भिन्नता के स्थूल विचार में ही अटका रहा तो कहते हैं कि मुझ आत्मा, अनन्त गुण व कारणशुद्धपर्यायरूप अभेद-ऐसा सूक्ष्म विचार, यह स्वद्रव्य और मुझ आत्मा, अनन्त गुण व पर्यायों का पिण्ड-ऐसा स्थूल विचार, यह परद्रव्य है। सूक्ष्म विचार को ही स्वद्रव्य मान, जीव उसी में अटका रहता है, स्वद्रव्य का आश्रय कर अपना कल्याण नहीं करता तो आचार्य कहते हैं कि परद्रव्यों से, स्थूल विचारों से भिन्न करने की अपेक्षा मुझ आत्मा, अनन्त गुण व कारणशुद्धपर्यायरूप अभेद-ऐसे सूक्ष्म

'जो होना हो, सो होता है' इस प्रकार मात्र परलक्ष्य से मानना यथार्थ नहीं है। 'होना हो, सो होता है' यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव का ज्ञान, पर के प्रति उदासीन होकर, अपने स्वभाव की ओर झुक जाए और उस ज्ञान में यथार्थ शान्ति व पर का अकर्तृत्व हो जाए। उस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, नियति, काल, स्वभाव और कर्म, यह पाँचों समवाय आ जाते हैं।

मङ्गल समर्पण

विचार को स्वद्रव्य कहा था। वास्तव में मुझ आत्मा, अनन्त गुण व कारणशुद्ध –पर्यायरूप अभेद – ऐसे सूक्ष्म विचार भी परद्रव्य हैं; है सो है, अनुभव में आवे – यह स्वद्रव्य है। ऐसा खेल शुरु होते ही मोक्षमार्ग में आ गया, नियम से मोक्ष प्राप्त करेगा।

प्रश्न– स्वक्षेत्र व परक्षेत्र क्या है? इसको जानने से लाभ क्या है? मुमुक्षु को स्वक्षेत्र–परक्षेत्र के विषय में किस प्रकार निर्णय करना चाहिये?

उत्तर– स्वक्षेत्र, मुझ आत्मा का चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी एक आकार, यह स्वक्षेत्र है और इसकी अपेक्षा मुझ आत्मा के अलावा अनन्त जीवों के असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र, अनन्तानन्त पुद्गलों के एक–एक प्रदेशी क्षेत्र, धर्म–अधर्म द्रव्यों के एक–एक असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र, आकाशद्रव्य का अनन्त प्रदेशी एक क्षेत्र, लोकप्रमाण असंख्यात काल द्रव्यों के एक–एक प्रदेशी क्षेत्र; सम्मेदशिखर का क्षेत्र, गिरनार का क्षेत्र, – ये सब परक्षेत्र हैं। इन परक्षेत्रों से मुझ स्वक्षेत्र का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते–मानते ही दृष्टि स्वक्षेत्र पर आ जाती है। यदि नहीं आती, अर्थात् स्वक्षेत्र सम्बन्धी स्थूल विचारों में ही अटका रहता है तो आचार्य करुणा करके समझाते हैं कि मुझ आत्मा का चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र — ऐसा स्थूल विचार, यह परक्षेत्र है और मुझ आत्मा असंख्यात प्रदेशी अभेद–ऐसा सूक्ष्म विचार, यह स्वक्षेत्र है। अब सूक्ष्म विचार को यदि स्वक्षेत्र मान, विचार में ही अटका रहता है और स्वक्षेत्र का आश्रय नहीं लेता तो आचार्य कहते हैं कि मुझ आत्मा का चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र — ऐसा सूक्ष्म विचार, यह परक्षेत्र है और 'है सो है' अनुभव में आवे, यह स्वक्षेत्र है। — ऐसा निर्णय होते ही धर्म की शुरुआत, वृद्धि और क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न– स्वकाल–परकाल क्या है? इस सम्बन्ध में क्या निर्णय करना चाहिए?

उत्तर– मुझ आत्मा, अनन्त पर्यायों का पिण्ड – यह स्वकाल है; इसकी अपेक्षा मुझ आत्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म–अधर्म–आकाश एक–एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात– ये सब भी अनन्त पर्यायों के पिण्ड, यह परकाल है। इन परकालों से, मुझ स्वकाल का किसी भी अपेक्षा किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते–मानते ही स्वकाल पर दृष्टि आ जाती है। यदि नहीं आती और स्वकाल सम्बन्धी स्थूल विचारों में ही अटका रहता है तो आचार्य करुणा करके कहते हैं कि मुझ आत्मा,

जैनशास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन है।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

अनन्त पर्यायों का पिण्ड — ऐसा भेदरूप स्थूल विचार, परकाल है; इसकी अपेक्षा मुझ आत्मा, कारणशुद्धपर्याय अभेद — ऐसा सूक्ष्म विचार, यह स्वकाल है।

ऐसा जानते-मानते ही दु:ख का अभाव और सुख की प्राप्ति। यदि नहीं होती, स्वकालरूप स्वभाव का आश्रय नहीं होता, अर्थात् सूक्ष्म विचार को ही स्वकाल मान, विचार में अटका रहे और स्वकालरूप स्वभाव का आश्रय न ले तो आचार्य कहते हैं कि परकाल से, स्थूल विचारों से भिन्न करने के लिये मुझ आत्मा, कारणशुद्धपर्याय अभेद — ऐसे सूक्ष्म विचार को स्वकाल कहा था। वास्तव में मुझ आत्मा, कारणशुद्धपर्याय अभेद-ऐसा सूक्ष्म विचार भी परकाल है। 'है सो है' अनुभव में आवे — इसका नाम स्वकाल है। — ऐसा जानते-मानते ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और क्रम से पूर्णता की प्राप्ति होती है।

प्रश्न- स्वभाव और परभाव क्या है? इस सम्बन्ध में क्या निर्णय करना चाहिए?

उत्तर- मुझ आत्मा, अनन्त सामान्य व ज्ञानादि अनन्त विशेषगुणों का पिण्ड, यह स्वभाव है। मुझ आत्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात, ये सब भी अनन्त सामान्य व अनन्त विशेषगुणों के पिण्ड हैं - ये परभाव हैं। इन परभावों से, मुझ स्वभाव का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही स्वभाव का आश्रय होकर दु:ख का अभाव हो जाता है। यदि नहीं होता और स्वभावसम्बन्धी स्थूल विचारों में ही अटका रहता है तो आचार्य करुणा करके कहते हैं कि मुझ आत्मा, अनन्त गुणों का पिण्ड-ऐसा भेदरूप स्थूल विचार भी परभाव है और मुझ आत्मा, अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड-ऐसा अभेद सूक्ष्म विचार, स्वभाव है। ऐसा जानते-मानते ही स्वभाव पर दृष्टि आनी चाहिए। नहीं आती और अभेद सूक्ष्म विचार को ही स्वभाव मानकर, सूक्ष्म विचारों में ही पड़ा रहता है तो आचार्य कहते हैं कि परभावों (परद्रव्यों से), गुणभेद से दृष्टि हटाने के लिये सूक्ष्म विचार को स्वभाव कहा था। वास्तव में मुझ आत्मा, अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड — ऐसा सूक्ष्म विचार भी परभाव है। 'है सो है' अनुभव में आवे - यह स्वभाव है। ऐसा जानते-मानते ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और क्रम से पूर्णता की प्राप्ति।

इस प्रकार स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, व स्वभाव को परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव से भिन्न अनुभवने पर, जन्म-मरण का अभाव नियम से होता है। यदि भिन्न अनुभव नहीं करता तो जन्म-मरण का चक्र भी नियम से चलता ही रहेगा।

वर्तमान पर्याय ही कार्य का समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय को वर्तमान पर्याय का उपादानकारण कहना, व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण-कार्य है और इससे भी आगे बढ़कर कहें तो एक पदार्थ में कारण और कार्य - ऐसे दो भेद करना भी व्यवहार है। वास्तव में तो प्रत्येक समय की पर्याय अहेतुक है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

दिनाँक 1-8-94

शुभभाव भी मोक्ष के घातक..

मैं जीव हूँ, ज्ञायक हूँ। मुझ आत्मा के आश्रय से ही सुख की, धर्म की प्राप्ति होती है; इसके अलावा धर्म की प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है। इसको भूलकर जो शुभभाव व शरीर की क्रिया से धर्म का होना मानते हैं, वे विधर्मी है, धर्म की विराधना करते हैं। शुभ व अशुभभाव दोनों ही हेय हैं, बन्ध के कारण हैं, संसार परिभ्रमण के कारण हैं। इस बात को भूलकर, जो शुभ को अच्छा, धर्म का कारण मानता है और अशुभ को बुरा मानता है, वह घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

समझना क्या? सुबह से शाम तक जितनी भी शरीरादि पुद्‌गलों की क्रिया हैं, उससे तो सर्वथा सम्बन्ध ही नहीं है। उसको अपना माना तो विकारीभाव उत्पन्न होता है - जो दु:ख का कारण है। इस दु:ख का अभाव कैसे हो? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ। यहाँ से आत्मा जायेगा, अकेला ही जायेगा। जिसके लिये चौबीस घण्टे पागल हो रहे हैं, उनसे सर्वथा सम्बन्ध ही नहीं है। विकार कोई भला नहीं, लेकिन जीव, शुभ को अच्छा, अशुभ को बुरा जानता है - यह तीव्र मोह का ही परिणाम है — फिर शुभभाव से धर्म का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? दया, व्रत, शील, संयम आदि में मग्नपना और हिंसादि अशुभभावों में मग्नपना - दोनों ही समान हैं, चाण्डालनी के पुत्र के समान हैं, बन्ध के कारण हैं। यदि जीव, शुभोपयोगी होता हुआ, व्रत, शील, संयम आदि में ही मग्न रहता है; शुद्धोपयोग को नहीं जानता, स्वयं को धन्य मानता है लेकिन अपनी आत्मा का आश्रय न होने के कारण, मिथ्यादृष्टि ही है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि कोई अशुभोपयोगी जीव, गृहस्थ क्रिया आदि में रत विषयों का ही सेवन करता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। 'शुभ अशुभ बन्ध के फल मँझार, रति-अरति करै निज पद विसार' — ऐसा मिथ्यादृष्टि का अभिप्राय है। आचार्य कहते हैं कि शुभ व अशुभ दोनों ही बुरे हैं, संसार के कारण है — ऐसा हम नहीं, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। शुभाशुभभावों से रहित, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय कैसे हो? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

(श्री समयसार, कलश टीका 100 से 110 तक का सार)

जैनमत में एक वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है। जैनधर्म में देव-गुरु-धर्मादिक का स्वरूप वीतराग ही निरूपण करके केवल वीतरागता ही का पोषण करते हैं।

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

शुभभाव से धर्म का सम्बन्ध आखिर हो कैसे सकता है ? दोनों का स्वभाव ही एक दूसरे से विपरीत है। धर्म, आत्मा की स्वभावरूप पर्याय है; शुभभाव, धर्म नहीं; अधर्म है। अजीवतत्त्व के लक्ष्य से होता है। समयसार गाथा 74 में कहा है — आस्रव, घातक हैं और आत्मा (शान्ति) घात होने योग्य है। इस प्रकार विरूद्धस्वभाव होने से आस्रव, स्वयं जीव नहीं है। आस्रव, मृगी के वेग की भाँति घटते-बढ़ते होने से अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है -ऐसा आस्रवों और आत्मा का भेदज्ञान होते ही आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। जैसे-जैसे अपने स्वभाव में स्थिर होता जाता है, शुद्धि बढ़ती जाती है, अशुद्धि घटती जाती है, पूर्ण स्थिरता होते ही आस्रवों का सर्वथा अभाव हो जाता है। क्या समझना ? आस्रव, जीव के स्वभाव में नहीं; जिसको स्वभाव का आश्रय हुआ, उसकी पर्याय में नहीं। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक जीव ही दोषरूप से आस्रवों का कर्ता है। उनके अभाव का उपाय ? मैं जीव हूँ; अजीव नहीं हूँ। इसी सन्दर्भ में समयसार गाथा 145 से 152 तक तथा छहढ़ाला पाँचवी ढ़ाल का 9 व 10 पद देखें।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन.......

दिनाँक 4-8-94

यदि अवसर चूके तो......

मुझ आत्मा चैतन्य-चमत्कारस्वरूप है लेकिन अजीवों में अपनेपने की मान्यता के कारण, आज तक एक समय के लिये भी अपना विस्मय आया ही नहीं। पर में पागल होने के कारण, अपनी महिमा आयी ही नहीं। बस कहते हैं कि मैं भगवान हूँ लेकिन शरीर को ही अपना माना है। यह भयंकर दुर्गन्धित कोढ़ से भी भयंकर बीमारी है। इसी बीमारी के परिणामस्वरूप धक्के खा रहा है और कोई कारण नहीं है; शरीर कारण नहीं है। यदि जैन को यह बात ध्यान नहीं आ सकती तो किसी को नहीं आ सकती। निगोद से लेकर द्रव्यलिङ्गी तक - सबको यह मिथ्यात्वरूप कोढ़ पाया जाता है। जब तक अपना अनुभव नहीं होगा, कितना ही शास्त्र का अभ्यासी हो, वह जिनवाणी का मर्म समझ ही नहीं सकता। मैं ज्ञायक

अरे जीव! तेरे सामने मरण खड़ा है और फिर भी तुझे बाह्य विषयों में हर्ष क्यों होता है ? इस देह का संयोग तो छूट जाएगा, यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, फिर भी तू आत्मा की दरकार क्यों नहीं करता ? जीवन तो क्षण में समाप्त हो जाएगा, फिर तू कहाँ जाएगा ? इसकी तुझे कोई चिन्ता है ? आत्मा इन देहादि समस्त संयोगों से भिन्न है और अन्दर के राग से भी पृथक् है। जिसे पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर पर की महिमा क्या ? राग का उत्साह क्यों ?

भगवान हूँ — इस बात को भूलकर, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा श्रद्धान, अगृहीतमिथ्यादर्शन है। अब मिथ्यात्व का अभाव कैसे हो? शरीर से सर्वथा भिन्न मैं ज्ञायक भगवान हूँ। यदि आज यह कार्य नहीं किया तो पुनः यह अमूल्य अवसर मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

शरीर को अपना मानने से और क्या नुकसान है? जब शरीर को अपना माना तो सारी दुनिया को अपनी माने बिना नहीं रहता। यह मेरी पत्नी, ये मेरे बच्चे, यह मेरे मित्र, यह मेरा मकान, यह मेरे आभूषण, ये मेरे कपड़े आदि-आदि समस्त विश्व को अपना बनाना चाहता है। आचार्य करुणा करके कहते हैं कि यहाँ अकेला आया था और यहाँ से अकेले ही जाना है। किसकी पत्नी? किसका बच्चा? किसका मकान? किसके मित्र? सब ठगों की टोली है। आचार्यों द्वारा करुणा करके समझाये जाने पर भी, पर की महिमा नहीं छूटती-कितना अचम्भा है? पर की सम्भाल में चौबीस घण्टे पागल है। जबकि पर की सम्भाल अपने हाथ में नहीं है। वह सर्वथा पुद्गल का कार्य है। मुझ आत्मा से सम्बन्ध हो कैसे, जब एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सर्वथा सम्बन्ध ही नहीं है।

मनुष्यभव, जैनकुल, सच्चे गुरु का समागम मिलने पर भी, सम्यक् परिणमन नहीं होता; गुरु बारम्बर समझाते हैं परन्तु कुछ विचार न करके मात्र बातें ही बातें बनाता है फिर कल्याण हो कैसे? ऐसा लगता है अभी कल्याण की, सुख की प्राप्ति की जरूरत ही महसूस नहीं हुयी। अरे! 'रुचि, जरूरत में से पैदा होती है।' जरूरत लगे और काम न बने, यह असम्भव है। प्रत्यक्ष दिखता है शरीर और आत्मा पृथक हो जाते हैं; एक शरीर को छोड़कर आत्मा, अन्य शरीर धारण कर लेता है परन्तु मैं मूढ़ यह मानने को तैयार नहीं। शरीर से भिन्न बुद्धि हो कैसे? यह सब मोह की महिमा है।

अपनी महिमा आवे कैसे? जिसे पर की महिमा है, वो अजैन है, दुःखी है। जिसे एक बार अपनी महिमा आ गयी, वही जैन है-सुखी है। जरा शान्ति से विचार तो करें - पर में आप कर क्या सकते हैं? यदि कर सकते हो तो सबसे पहले शरीर में करके दिखाओ। चौबीस घण्टे शरीर की संभाल हो रही है, यह बिगड़ता जा रहा है। शरीर से अपने को भिन्न माने, अभी सारी बीमारी दूर हो जाये। शरीर से भिन्न बुद्धि हो, उसके लिये क्या करें? जैसे माँ का लड़का खोया गया - लड़का कहता है मेरी माँ; माँ कहती है — मेरा लड़का और कुछ दिखायी ही नहीं देता; उसी प्रकार चौबीस घण्टे ही तत्त्व की ऐसी रटन्त रहे कि बस मुझे तो स्वयं

जैनधर्म की पद्धति तो ऐसी है कि 'प्रथम तत्त्वज्ञान हो, और पश्चात् चारित्र हो, सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है।'

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

को पाना ही है, अनादि से भूले हुए को आज ही, अभी ही पाना है — ऐसी जरूरत लगे तो शरीर से भिन्न निज आत्मस्वरूप की खबर पड़े।

आचार्य पुनः पुनः करुणा करके कहते हैं – हे भव्य जीव! यदि दुःखों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादि भावों को तू छोड़! छोड़!! छोड़!!!

अगृहीतमिथ्यात्व की दूर करने की कहते हैं परन्तु अभी तो गृहीत –मिथ्यात्वरूप मीठे जहर के सेवन में पागल हैं। किस प्रकार? चौबीस घण्टे शरीर की रख–रखाव में पागल है। अब इसका अभाव कैसे हो? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — ऐसा मानते ही गृहीत–अगृहीत का एक ही साथ अभाव हो जाता है।

निरोगी शरीर, धन, पुत्र, मकान, आदि सर्वथा पुद्गल का कार्य है, इसमें पूर्व कर्म का उदय निमित्त है; जीव की वर्तमान चतुराई जरा भी कार्यकारी नहीं है — ऐसा कहते हैं, पर मानते विपरीत हैं तो यह गृहीतमिथ्यात्व ही तो है। जो गुरुदेव के सान्निध्य में नहीं आये, उनकी तो बात ही नहीं, पर जो गुरुदेवश्री के चरणों में आये और वो अजीवतत्त्व को ही अपना माने, अजीवतत्त्व के कार्य मैं ही करता हूँ — ऐसा माने, रुपया–पैसा, गाड़ी मकान से ही सुख होगा, बच्चे, स्त्री सब आज्ञा में चले तो ही सुख होगा, मैंने परिग्रह छोड़ दिया — मैं त्यागी हो गया — अरे! यह सब ही तो गृहीतमिथ्यात्व है। समझना तो यह था कि मैं ज्ञायक हूँ; ज्ञान व सुख मुझ आत्मा के ज्ञान व सुखगुण में से ही आता है; परद्रव्यों से, ज्ञेयों से, पाँच इन्द्रिय के विषयों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं — ऐसा मानते ही मोक्षमार्ग शुरु हो जाता है।

शरीरादि परद्रव्यों को अपना माननेरूप अहंबुद्धि अनादि से जीव में बिना सिखाये ही चली आ रही है। एकेन्द्रिय आदि को भी, जो कि शरीर, इन्द्रिय आदि का नाम भी नहीं जानते — ऐसा ही परिणमन होता है कि मैं स्पर्शन से स्पर्श करता हूँ। उनको तो सुलटने का मौका नहीं, पर मुझे तो मनुष्यभव, जैनकुल, पूज्य गुरुदेव का समागम — ये सारी अनुकूलताएँ वर्तमान में ही प्राप्त है, बात रुचती है, दुःखी हूँ, भासित होता है; शरीर–आत्मा भिन्न हो जाते हैं — यह प्रत्यक्ष दिखता है; अतः वर्तमान में भी भिन्न ही है — ऐसा लगता है। मेरे अनन्त गुणों से मेरी महत्ता है; शरीर, धन, इज्जत, गाड़ी, मकान आदि से अपनी महत्ता नहीं है, ऐसा लगता है लेकिन फिर भी अपना अनुभव नहीं, यह अचम्भा है। सर्व प्रथम तो ऐसा योग बना, यह अचम्भा है लेकिन योग बनने पर भी न सुलटे, यह सबसे बड़ा अचम्भा

अरे! आत्मा को भूलकर पर में आत्मबुद्धि से जीव ने संसार में अनन्तानन्त अवतार किये हैं... जगत् में सर्वत्र उत्पन्न हो चुका है और जहाँ–जहाँ उत्पन्न हुआ, वहाँ–वहाँ अज्ञानभाव से अपनापना माना है। चींटी के भव के समय अपने को चींटी और हाथी के भव के समय 'मैं हाथी' इस प्रकार अपने को हाथी माना है; देव के भव के समय अपने को देव और नारकी के भव के समय आत्मा को नारकी माना है। सर्वत्र सर्व परभावों में अपनापना माना है परन्तु इन सब से पृथक् मैं तो ज्ञानस्वभावरूप हूँ – ऐसा आत्मानुभव एक क्षण भी जीव ने नहीं किया है।

है। चारों गतियों में मैं धक्के खा रहा हूँ अपनी इसी मूर्खता के कारण। इस मूर्खता के अभाव का एकमात्र उपाय ही है कि मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ। शरीर की अनुकूलता से मैं सुखी, शरीर की प्रतिकूलता से मैं दु:खी — ऐसा अनादि से तो मानते ही आ रहे हैं और वर्तमान में सत्य बात सुनने पर भी, ऐसा ही माने – यह गृहीतमिथ्यात्व है। अनादि से तो मिथ्यात्व था ही, वर्तमान में सर्व अनुकूलता मिलने पर, उसी का पोषण किया — धिक्कार है ऐसे मनुष्य जीवन को। मनुष्य जीवन का कर्तव्य है, सत्य-असत्य का विवेक करके यथावत् प्रर्वत्ते। मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — ऐसा मानते ही आस्रव-बन्ध हेय हो गये; संवर-निर्जरा एकदेश प्रगट करने योग्य उपादेय हो गये और मोक्ष, पूर्ण प्रगट करने योग्य उपादेय हो गया – यह यथावत् प्रवर्तना है।

मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म मिलने पर भी, गृहीतमिथ्यात्व का ही चौबीस घण्टे सेवन हो रहा है। किस प्रकार? मैं कैलाशचन्द्र हूँ, यह गृहीत-मिथ्यात्व है; मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं बहू हूँ, मैं माँ हूँ, मैं पति हूँ, मैं बेटा हूँ, मैं बहन हूँ, आदि-आदि गृहीतमिथ्यात्व है। शरीर में अहंबुद्धिरूप अगृहीतमिथ्यात्व तो अनादि से चला ही आ रहा है; वर्तमान में उसकी विपरीतता की और भी ज्यादा पुष्टि की। करेला कड़वा, ऊपर से नीम चढ़ा। सात तत्त्व की बात करते हैं, पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं – उसमें भी हम गृहीतमिथ्यात्व का ही पोषण करते हैं। जीवतत्त्व को अपना मानूँगा तो सुखी होऊँगा और अजीव को अपना मानने से ही आज तक दु:खी हूँ — ऐसा कहें और माने नहीं तो यह गृहीतमिथ्यात्व का ही पोषण है।

अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है लेकिन स्वयं केवल देखने-जाननेवाला न रहकर,जो पदार्थ ज्ञान की पर्याय में निमित्त पड़ते हैं, उनमें किसी को इष्ट मानकर सद्भाव चाहता है, किसी को अनिष्ट मानकर अभाव चाहता है – यह गृहीत-मिथ्यात्व है क्योंकि बातें ऐसी बनाता है कि मैं ज्ञायक हूँ और विश्व का कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। आज ही सम्यक् निर्णय करना है। यदि आज नहीं सुधरा तो फिर कभी नहीं सुधरेगा। अब सर्व प्रकार से अनुकूल अवसर आया है, ऐसा अवसर मिलना कठिन है।'यह मानुष पर्याय, सुकुल, मुनिवरों जिनवाणी; इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी'।

अत: चेतो! चेतो!! चेतो!!! समय व्यर्थ न गँवाकर अपने कल्याण में भी कमर कसकर लग जाना है। कमर कसना क्या? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

जिस भाव से आत्मा को पुण्य अथवा पाप आस्रवित होते हैं, उस भाव द्वारा वह (जीव) परचारित्र है – ऐसा जिन प्ररूपित करते हैं; इसलिए परचारित्र में प्रवृत्ति, सो बन्धमार्ग ही है; मोक्षमार्ग नहीं है।
– **आचार्य कुन्दकुन्द**

दिनाँक 9-8-94

ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक...

पूज्य गुरुदेवश्री का समागम इस पञ्चम काल में अचम्भा है। जैसे, कोई समवसरण ऊपर से उतरा हो - ऐसा एक अतिशय था। आज सारा विश्व दुःखी है। किस कारण? अपने कारण। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य में हेर-फेर कर सकता नहीं; कोई किसी का बुरा कर सकता नहीं। अपना ही बुरा अपने आप ही करता है। यह मनुष्यभव मिला है; मैं अलग, शरीर अलग, ऐसे निर्णय के लिये। बस इतनी सी बात है, बिना बात के पागल है। **दिगम्बरधर्म, जैनकुल! पूज्य गुरुदेव न होते तो यह बात सुनने को भी नहीं मिलती।**

ज्ञान, अरूपी है; ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र विघ्न नहीं कर सकता; ज्ञान, अविकारी है; ज्ञान, चैतन्य चमत्कारस्वरूप है; ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता; ज्ञान, सर्व समाधानकारक है — ऐसा निर्णय करने के लिये यह मनुष्यभव मिला है। इस शरीर की कोई कीमत नहीं है। आत्मा है तो इस शरीर की कीमत कहने में आती है। जिनसे किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं, उसमें अन्धा हो रहा है। रूपीपदार्थ हैं, पुद्गल हैं लेकिन मुझ आत्मा से उनका सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र विघ्न नहीं कर सकता। ज्ञान, सम्यक् होने पर पता चला कि मुझ आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अविकारी है, चैतन्य चमत्कारस्वरूप है।

मुझ आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता। यहाँ से आत्मा चला गया, किस चीज से अपना सम्बन्ध रहा? यह बात अपना अनुभव हुए बिना समझ में नहीं आ सकती। आत्मा कैसा है? केवली की भी हस्ती नहीं बता सकें। अनुभवगम्यतत्त्व को वाणी में कैसे कहा जा सकता है? मुझ आत्मा एक तरफ, सारा विश्व दूसरी तरफ; कोई सम्बन्ध नहीं है। मुझे तो सारे शास्त्रों में सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की प्राप्ति के उपाय के सिवाय कुछ दिखता नहीं। हम दूसरों को अपना मानकर, बगैर बात में अपने आप दुःखी हो रहे हैं क्योंकि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, उसे परिणमित नहीं कर सकता।

क्यों नहीं कर सकता? समयसार 75-76-77-78 गाथाओं में एक समय की पर्याय के तीन नाम लिये- प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य। कार्य जो हुआ, द्रव्य-गुण में था तो आया; अतः उसी कार्य को प्राप्य; पूर्व का अभाव करके आया; अतः विकार्य; पहले नहीं था, नवीन उत्पन्न हुआ; अतः निर्वर्त्य। सारांश क्या? कि जो

अरे! पर में एकत्वबुद्धि के मोह से पागल होकर, जीव चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है और अनेक प्रकार के मिथ्याविकल्प कर - करके दुःखी हो रहा है। जहाँ शुभराग का कर्तृत्व भी दुःख है, वहाँ अशुभ की अथवा जड़ की तो बात ही क्या? जो अपने परिणाम के आधीन नहीं हैं - ऐसे जगत् के पदार्थों के पीछे जीव, पागल बना हुआ है; भ्रमवश उनका कर्तृत्व मानता है... उसमें चैतन्य का भावमरण है।

कार्य, जिस द्रव्य-गुण में से, जिस पर्याय का अभाव करके और जिस समय होना है, उसी समय होगा, फिर एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को कैसे परिणमित करे? जो परिणमित होता है, वही कर्ता है।

पर को परिणमित नहीं कर सकता परन्तु प्रेरणा तो कर सकता है? सर्वथा नहीं; अरे! आदिनाथ भगवान मारीच को प्रेरणा कर देते? जैनदर्शन में परतन्त्रता स्वीकार्य नहीं है। भाई! एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को प्रेरणा नहीं कर सकता; लाभ-हानि नहीं कर सकता; मार-जिला नहीं सकता; उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता; सहायता या उपकार नहीं कर सकता — ऐसी द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता की घोषणा अनन्त ज्ञानियों ने एक मतानुसार पुकार-पुकार कर कही है।

इस प्रकार अनन्त जड़ व चेतनद्रव्य एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। यह मनुष्यजन्म चारों गतियों के अभाव के लिये मिला है। सारा समय शरीर की ही देखभाल में जाता है। यह ख्याल एक समय नहीं आता कि शरीर में कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से करता है। शरीर में अनन्त पुद्गल परमाणु, प्रत्येक परमाणु में अनन्त-अनन्त गुण, हर गुण में हर समय एक पर्याय का उत्पाद और एक पर्याय का व्यय और गुण-ध्रौव्य - फिर मुझ आत्मा, शरीर में क्या करे? फिर दूसरी बात यह भी तो है कि कोई द्रव्य किसी भी समय कार्यरहित नहीं होता! जहरीला साँप है, काट लेगा, उधर से तुरन्त उल्टी दिशा में भागेगा। मिथ्यात्व को अपना शत्रु समझा ही नहीं। साँप, अजगर को पाल रखा है।

जगत में छहों द्रव्य नित्य स्थिर रहकर, प्रति समय अपनी अवस्था का उत्पाद-व्यय करते रहते हैं; अतः किसी द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, नया उत्पन्न नहीं होता, कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि — 'जड़-चेतन की सब परिणति प्रभु, अपने-अपने में होती है; अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें यह झूठी मन की वृत्ति है।' अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता। शरीर में बालकपन, जवानी, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था आयी, कौन लाया? स्वयं आयी। अब आत्मा इन सब अवास्थाओं का ज्ञान तो एक साथ कर सकता है परन्तु इन अवस्थाओं में मैं कुछ भी कर सकने में असमर्थ हूँ। शरीर में बीमारी आयी, कौन लाया? ठीक कर दो? नहीं कर सकते। मैं शरीर की निरोग व रोगी अवस्था को जान तो सकता हूँ, परन्तु शरीर के परिवर्तन में हेर-फेर करने में असमर्थ हूँ। एकक्षेत्राबगाही शरीर में कुछ कर सकने में असमर्थ हूँ तो अत्यन्त भिन्न में क्या कर

जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है। इसलिए मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

सकता हूँ ? कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। बालकपन में जवान कर दो ? नहीं कर सकते। बूढ़े को जवान कर दो ? नहीं कर सकते। क्यों ? प्रत्येक द्रव्य नित्य स्थिर रहकर अपनी अवस्था का उत्पाद-व्यय करता है। जैसे, कोई पत्थर को सोना मानकर बैठ जाये दु:खी होता है; इसी प्रकार शरीर को ही अपना मानकर बैठ गया, महान दु:खी होगा। शरीर साथ नहीं जायेगा, पैसा, धन, मकान आदि साथ नहीं जायेगा, तब यह दशा है। — अचम्भा है !

मिथ्यात्व की महिमा तो देखो ! पुण्योदय से सच्चे गुरु का समागम मिला, पर मिथ्यात्व के कारण सब कुछ उल्टा ही मानता है। सुबह से शाम तक का प्रत्येक रूपीकार्य का कर्ता सर्वथा पुद्‌गल ही है। अनादि काल से आज तक अनन्त शरीर धारण किये लेकिन एक रजकण भी अपना नहीं बना, क्योंकि पुद्‌गल भी कायम रहता हुआ, अपना प्रयोजनभूत कार्य करता हुआ, निरन्तर बदलता है। केवली भगवान को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रगटा है, परन्तु वे भी चार अघातिकर्म और शरीर का अभाव नहीं कर सकते तो अपनी तो हस्ती ही क्या ? अपना कार्य तो मात्र जानने का ही है, पर का कुछ भी कर सकने में असमर्थ हूँ-

जब वस्तुस्वरूप ऐसा है कि आत्मा, मात्र ज्ञान ही कर सकता है; पर में कुछ नहीं कर सकता, तो अब मुझे क्या समझना कि अनादि परिभ्रमण की थकान का दु:ख दूर हो ?

1- एक आत्मा, दूसरे आत्मा का कुछ नहीं कर सकता।

2- एक आत्मा, जड़ का कुछ नहीं कर सकता।

3- एक पुद्‌गल, दूसरे पुद्‌गल का कुछ नहीं कर सकता।

4- एक पुद्‌गल, मुझ आत्मा का कुछ नहीं कर सकता।

सारांश यह है कि मुझ आत्मा, अपने अतिरिक्त अनन्त जीव, पुद्‌गल, धर्म-अधर्म-आकाश-कालद्रव्यों में कुछ नहीं कर सकता — ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है।

मुझ आत्मा का विश्व के पदार्थों से मात्र ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है — ऐसा भी व्यवहार से कहने में आता है। वास्तव में मुझ आत्मा-ज्ञायक और मेरी ही ज्ञान की पर्याय ज्ञेय। ऐसा भेद भी नहीं — बस मैं ज्ञायक.....ज्ञायक.....ज्ञायक.....।

आजकल तो मोटर-रेल-हवाईजहाज आदि की दुर्घटनाओं में कितने ही लोगों के मरने के समाचार आते हैं। आँख खुले और स्वप्न चला जाये, तदनुसार शरीर और भव, क्षण में चला जाता है। हृदयाघात होने से क्षण में छोटी-छोटी उम्र में मृत्यु हो जाती है। अरे! यह सं... सा... र! नरक में अन्न का दाना भी नहीं मिलता, पानी की बूँद भी नहीं मिलती और प्रतिकूलता का पार भी नहीं है - ऐसे-ऐसे प्रतिकूल संयोगों में अनन्त बार गया, परन्तु वहाँ से निकलने पर सब भूल गया। उसका विचार करे तो उन सब दु:खों से छूटने का मार्ग ढूँढे। अहा! ऐसा मनुष्यभव मिला और सत्य समझने का योग प्राप्त हुआ, उसमें अपना आत्मा का हित कर लेने जैसा है।

मङ्गल समर्पण

दिनाँक 13-8-94

ऐसा ही श्रद्धान करना

मिथ्यात्व का अभाव कैसे हो ?

मुझ आत्मा अरूपी, उसके गुण अरूपी, उसकी विकारी-अविकारी पर्याय भी अरूपी; अब उसका ज्ञान कराया कैसे जाये ? इसकी बात कभी सुनी नहीं, परिचय में आयी नहीं, जिनको मालूम है, उनकी संगति की नहीं। भगवान की आज्ञा के अनुसार आज्ञा का पालन एक बार भी नहीं किया। आचार्य कहते हैं कि मैंने अरूपी आत्मा देखा है और तुमको दिखलाऊँगा, लेकिन मेरे कहने से नहीं, अपितु अपने अनुभव से प्रमाण करना। निजात्मा में प्रमत्तपना भी नहीं, अप्रमत्तपना भी नहीं। निजात्मा में पर्याय का प्रवेश नहीं — ऐसा अरूपी आत्मा है। अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु आप है। — ऐसा अरूपी आत्मा है। इसकी चर्चा सुनने की भी फुर्सत नहीं है। जिसको जिसकी, रुचि होती है, चौबीस घण्टे वही बात ध्यान आती है — विचारो ऐसा है क्या ?

मुझ अरूपी आत्मा का ज्ञान कराने के लिये आचार्य, करुणा करके व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, क्योंकि व्यवहार के बिना, निश्चय का उपदेश नहीं होता। क्यों ? मुझ आत्मा अरूपी है - उसके गुण-पर्याय भी अरूपी है - कैसे समझायें ? अब प्रश्न है कि व्यवहार द्वारा निश्चय का उपदेश किस प्रकार किया गया है ? व्यवहार बिना-शरीर के संयोग बिना, मुझ आत्मा का उपदेश कैसे नहीं होता ? छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं, एक तरफ मुझ आत्मा, दूसरी तरफ सारा विश्व। मैं त्रिकाल अकेला, एकरूप हूँ, बाकी सब कुछ यहीं रह जानेवाला है। अब समझना क्या ? मैं कौन हूँ ? तो आचार्य कहते हैं कि निश्चय से निजात्मा कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है, यह यथार्थ वस्तुस्थिति है — ऐसा सर्वज्ञ के ज्ञान में आया हुआ मुझ आत्मा का स्वरूप है। परद्रव्य हैं परन्तु इन परद्रव्यों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। निजात्मा सत्य है, अनादि-अनन्त हैं, स्वयं सिद्ध है; त्रिकाल ऐसा ही है। आत्मा की ज्ञान की निरन्तर पर्याय होती है, जिसमें परपदार्थ निमित्त पड़ते है, जो मूर्तिक होने से भासित होते हैं और अरूपी ज्ञानस्वभाव भासित नहीं होता। उन परद्रव्यों

जैनधर्म का तो ऐसा उपदेश है, पहले तो तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे, उसका दोष पहचाने; त्याग करने में जो गुण हों उसे जाने; फिर अपने परिणामों को ठीक करे; वर्तमान परिणामों के ही भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं।

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

को अपना मानकर, उनका कर्ता-भोक्ता बनकर व्यर्थ में ही दु:खी होते हैं। अब महान पुण्योदय से यह सुअवसर मिला कि गुरु ने बताया कि मुझ आत्मा, कैलाशचन्द्र आदि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है; अब उसे जो नहीं पहचानते, अर्थात् गुरु ने बताया परन्तु कुछ समझ नहीं आया कि मुझ आत्मा क्या है ? अत: जिज्ञासु जीव को गुरु ने करुणा करके व्यवहारनय से कैलाशचन्द्र नामरूप शरीर के संयोग की अपेक्षा से समझाया कि ये कैलाशचन्द्र ही तो जीव है, तब शरीरसहित जीव की पहचान हुयी; इस प्रकार व्यवहार के बिना, निश्चय का उपदेश नहीं हो सकता। कैलाशचन्द्र जीव है, स्त्री जीव है, पेड़ जीव है — आदि शरीरसहित जीव की पहचान से इतना लाभ रहा कि जिनमें जीव का संयोग नहीं — ऐसे सोना, चाँदी, रुपया, पैसा, मकान आदि परद्रव्यों से तो दृष्टि हट गयी।

मुझ आत्मा अरूपी होने से, उसका शरीर के संयोग की अपेक्षा बिना, ज्ञान कराना अशक्य है परन्तु कैलाशचन्द्र, जीव है — ऐसे व्यवहारनय को ऐसे ही नहीं मान लेना। फिर प्रश्न उठता है कि कैलाशचन्द्र, जीव है, इस व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना ? व्यवहार से कैलाशचन्द्र, जीव है — ऐसा कहा परन्तु इस कैलाशचन्द्र शरीर को ही जीव नहीं मानना है। यह कैलाशचन्द्र नामरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। इसमें मुझ आत्मा जो कि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है - भिन्न है और कैलाशचन्द्र सर्वथा भिन्न है। अनादि-अनन्त, स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु निजात्मा है, वही मैं हूँ, वही जीव है। मुझ जीव के संयोग से कैलाशचन्द्र को भी उपचार से जीव कहा है। शरीर के संयोग से जीव की पहचान कराने का प्रयोजन कैलाशचन्द्र शरीर से भिन्न, अरूपी आत्मा का लक्ष्य कराना है। कैलाशचन्द्र के संयोग से जीव की पहचान करायी, पर असलियत तो यह है कि मुझ आत्मा के संयोग से इस कैलाशचन्द्र की कीमत कहने में आती है, सो कथनमात्र है, शरीर कभी जीव नहीं होता। दोनों के लक्षण, जाति, बिरादरी सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा श्रद्धान करना।

सर्व प्रकार से अनुकूल इस अवसर में भी यदि अपना कल्याण नहीं किया तो समझो अनन्त संसार बाकी है। जिनवाणी तो सत्यता की, वस्तुस्वरूप की उद्घोषणा करती है, जिसने ग्रहण किया, वह पार हो जाता है, संसारचक्र से छूट

दूसरों के दु:खों को सुनकर, बहुत बार सुननेवालों को वैराग्य हो जाता है परन्तु वह वैराग्य सच्चा नहीं है। जीव को दु:ख अप्रिय है; अत: दु:ख की बात सुनने में आने पर उदासीनभाव आ जाता है परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जिसको संसार में वास्तविक वैराग्य आ गया है; उसको तो चक्रवर्ती को ऋद्धि सुनने से हर्ष होता है। संसार से सच्चे विरक्तभाववाले को तो चक्रवर्ती की ऋद्धि का वर्णन हो या नारकी के दु:ख का वर्णन - दोनों में संसार का दु:ख समान ही लगता है; उसकी तरफ एक समान उदासीनभाव होता है।

जाता है। सत्य बात सुनने पर भी 'मैं आत्मा हूँ' —ऐसा स्वप्न भी नहीं है। आत्मा का ज्ञान कराने के लिये आचार्य भगवान, करुणा करके व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं क्योंकि निज आत्मा के ज्ञान बिना, करोड़ों वर्ष का शास्त्रस्वाध्याय भी कोई फल नहीं देता। व्यवहार द्वारा 'आत्मा' का उपदेश देते हैं परन्तु व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है; मात्र जानने योग्य है। अरूपी आत्मा का ज्ञान कराना अशक्य होने से, व्यवहार द्वारा शरीरसहित जीव की पहचान करायी, परन्तु व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहार से शरीर को जीव कहा, परन्तु शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है, इसमें ज्ञान नहीं, सुख नहीं, दुःख नहीं; जो चला गया, जानने-देखनेवाली वस्तु वो 'मैं' हूँ — ऐसा मानना ही व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान है। ऐसा श्रद्धान होते ही दृष्टि, स्वभाव पर आनी चाहिये; यदि नहीं आती तो आचार्य करुणा कर दूसरे प्रकार से समझाते हैं।

अभेद आत्मा का ज्ञान कराने के लिये भेदरूप व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, लेकिन यह भेदरूप व्यवहार है, जाननेयोग्य है; अङ्गीकार, अर्थात् आश्रय करने योग्य नहीं है। मुझ ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध आत्मा को समझाना अशक्य होने से अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप भेद उत्पन्न करके समझाते हैं कि जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है; शरीरवाला जीव नहीं है, इन्द्रियवाला जीव नहीं है, परन्तु यह भेदरूप व्यवहार भी अभेदात्मा को समझाने के लिये है; आश्रय करने योग्य नहीं है। अभेदात्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप विशेष तो किये परन्तु ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण कहीं आत्मा से पृथक नहीं हैं। आत्मा और गुणों को भिन्न-भिन्न समझने से कल्याण नहीं होगा। निश्चय से आत्मा, अभेद ही है; संज्ञा आदि की अपेक्षा किये, सो कहनेमात्र हैं क्योंकि आत्मा और गुण, इस प्रकार नामभेद हैं परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा, एक और गुण, अनेक; इस प्रकार संख्याभेद है परन्तु प्रदेशभेद नहीं है; ज्ञान-दर्शनादि गुणों के समूह को आत्मा कहते हैं और जो आत्मा के सम्पूर्ण भाग व उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, वे ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं, इस प्रकार लक्षणभेद हैं परन्तु प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा का प्रयोजन अभेद हैं और हर गुण का प्रयोजन अलग-अलग है, इस प्रकार प्रयोजनभेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद करके समझाने का प्रयोजन, अभेदात्मा का आश्रय कराना है परन्तु यह भेदरूप व्यवहार, आश्रय करने योग्य नहीं है — ऐसा ही श्रद्धान करना।

जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं, वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

जिसको संसार का दु:ख लगा हो और सुख चाहता हो; जैसे भूखा हो, भूख मिटाना चाहता हो – वही जीव अपना कल्याण कर सकता है। आत्मा अरूपी है, उसका आश्रय कर सकता है। शरीर की क्रिया, शुभभाव, शास्त्र पठन-पाठन आदि के विकल्पों से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। निश्चय से वीतरागभाव, मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन के बिना 11 अङ्ग नौ पूर्व के पाठी का भी इस मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं है। सुख आत्मा में है और पाँच इन्द्रिय के विषयों में ढूँढ़ते हैं, मिले कहाँ से? इन विषयों में न सुख है, न दु:ख है। **दिगम्बरधर्म, जैनकुल, पूज्य गुरुदेव का समागम मिलने पर भी सत्य का विरोध करता है, अपात्र है।**

विरोध क्या? मैं जीवतत्त्व हूँ — ऐसा न मानकर, अजीवतत्त्व ही अपने को माना। जीवतत्त्व का आश्रय होने पर, सिद्धदशा जैसी वीतरागता प्रगट हो जाती है, तब पता चला कि अत्यन्त भिन्न पदार्थों से, औदारिक आदि शरीरों से, शुभाशुभभावों से, अबुद्धिपूर्वक विकल्पों से भी सर्वथा भिन्न, मैं त्रिकाल एकरूप भगवान आत्मा हूँ। ऐसा अनुभव होते ही 'स हि मुक्त एव।' उसी समय पर्याय में भी भगवानपना प्रगट हो जाता है। इसको मोक्षमार्ग कहो, सुख का मार्ग कहो, स्वानुभवमार्ग कहो – एक ही बात है। अब वर्तमान में सर्व प्रकार से अनुकूल अवसर में, स्वयं को शरीर से भिन्न नहीं समझा तो यह अवसर पुन: मिलना कठिन है।

वीतरागभाव मोक्षमार्ग क्या है? इसकी पहचान, इसकी प्राप्ति कैसे हो? निश्चय से वीतरागभाव, मोक्षमार्ग है, उसकी जब हमें तो पहचान नहीं और ऐसा ही कहते रहें कि वीतरागभाव मोक्षमार्ग है तो कुछ समझ नहीं आता। अत: करुणा करके आचार्य भगवान व्यवहारनय से समझाते हैं कि जिनको सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हुयी है। किस प्रकार? परद्रव्य को अपना न मानने के कारण। उनके वीतरागभाव के विशेष बतलाये (शरीरक्रिया व शुभभाव दोनों को)। किस प्रकार? जिसको तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक सकलचारित्र की प्राप्ति हुयी, वह तो मुनिपना है ही, साथ में भूमिकानुसार 28मूलगुणादि के विकल्प व शरीर की क्रिया को भी मुनिपना कहकर, निश्चय वीतरागभावरूप मुनिपना के विशेष बतलाये। प्रयोजन, मात्र निश्चय मुनिपना की पहचान कराना है; शरीर की क्रिया व शुभभाव मुनिपना नहीं है क्योंकि शरीर की क्रिया तो परद्रव्य है, पर का आत्मा कर्ता-हर्ता है नहीं। शुभभाव से भी धर्म का सम्बन्ध नहीं है। शुभभाव है, दोष है, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; अत: वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है।

जैनधर्म में ही यह एक विशेष विशिष्टता है कि उसमें सर्वज्ञस्वामी का सेवक, सदा सेवक ही नहीं रहता, अपितु वह स्वयं केवलज्ञानादि वैभव प्रगट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन जाता है। परमात्मा की उपासना करनेवाले का लक्ष्य, स्वयं परमात्मा बनने का है; इसलिए स्वयं में परमात्मस्वभाव है; उसकी प्रतीति करके, उसकी अन्तरङ्ग उपासना से परमात्मपद को साध लेता है, भक्त स्वयं भगवान बन जाता है... यह है जैन-भक्ति का फल!

दिनाँक 18-8-94

आसान है राह धर्म की

धर्म का कार्य आसान है। यदि आसान न हो तो निगोद से निकलते ही अनेक जीवों ने यह कार्य कैसे कर लिया? सातवें नरक के नारकी ने कैसे कर लिया? अरे! धर्म के लिये किसी संयोग या संयोगीभाव की आवश्यकता नहीं। कोई स्थिति अनुकूल-प्रतिकूल नहीं। त्रिकाल विद्यमान निज स्वभाव का एक क्षण का लक्ष्य, धर्म की शुरुआत है। त्रिकाल स्वभाव, शुद्धनय है; उसके आश्रय से प्रगट शुद्धभाव, शुद्धनय है। अपना अनुभव हुए बिना यह बात समझ नहीं आ सकती।

शुद्धनय क्या है? अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु स्व है - यह शुद्धनय है।

शुद्धनय किसे कहा?

1- त्रिकाली स्वभाव का नाम शुद्धनय।

2- शुद्धपर्याय - शुद्धनय;

3- प्रमाण की अपेक्षा, स्वभाव व शुद्धपर्याय दोनों को एक साथ शुद्धनय कहा है।

आज तक शुद्धनय का पता नहीं चला, क्योंकि —

ज्यों रमता मन विषयों में त्यों हो आतम लीन।
मिले शीघ्र निर्वाण पद, धरें न देह नवीन॥

अरे! सांसारिक सुख भी धर्मात्मा के लिए रिजर्व हैं; जिसको पैसा चाहिए, इज्जत चाहिए, उसे भी बाहरीरूप से देखा जाये तो धर्म में ही लगना पड़ेगा। धर्म में लगें कैसे? सारे जैनदर्शन में मात्र सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धादशा तक की प्राप्ति का उपाय बताया है। कैलाशचन्द्र से सर्वथा भिन्न, त्रिकाल ज्ञानस्वरूप निज आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही एकमात्र धर्म प्राप्ति का उपाय है। आज मैं दु:खी हूँ, सारी दुनिया को अपनी मानकर, उनमें इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना के कारण। जो वस्तु जहाँ होती है, वहीं से प्राप्त होती है। सुख, विषयों में नहीं; आत्मा में है। धर्म, शरीर में या शुभभाव में नहीं; निजात्मा में है। सम्यक्दर्शन के लिये ज्ञान के

जैनधर्म का सेवन तो संसार नाश के लिए किया जाता है, जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं, वे बड़ा अन्याय करते हैं; इसलिए वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

उघाड़ की भी जरूरत नहीं। ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व ही शुद्धनय है, उसका आश्रय होते ही पर्याय में शुद्धनय प्रगट हो जाता है। ज्ञान के बिना आज तक कोई आत्मा रहा नहीं, रहता नहीं, रहेगा नहीं।

त्रिकाली शुद्धनय का अनुभव कैसे हो ? मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं, कैलाशचन्द्र नहीं हूँ। आज तक मुझ आत्मा ने एक समय भी शरीर का स्पर्श किया नहीं। 'भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है।' अर्थात् स्वभाव के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति होती है; शरीर के आश्रय से सर्वथा नहीं। मिले हुए सोने-चाँदी के स्कन्ध में सुनार, सोने व चाँदी को जिस प्रकार पृथक-पृथक जानता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, शरीर व आत्मा को पृथक-पृथक ही जानते हैं अनुभवते हैं। शरीर का संयोग है पर ज्ञान का ज्ञेय है। इसी का नाम धर्म है। धर्म क्या ? जो जीव को दु:खों से निकलकर अविनाशी मोक्ष सुख की प्राप्ति कराये। समझना क्या है ? मुझ आत्मा सिद्ध समान है परद्रव्यों की कल्पना से रहित है। त्रिकाल एक रूप चैतन्य स्वभाव से संयुक्त है। चैतन्य स्वभाव क्या ? ज्ञानदर्शनादि अनन्तगुण ठसाठस भरे हुये हैं। इसका पता कब चला ? अपना अनुभव होने पर। अपना अनुभव हुये बिना सारा ज्ञान मिथ्याज्ञान है, जितना आचरण है सर्व मिथ्याचारित्र है। अपना अनुभव क्यों नहीं होता ? अपने को भूलकर पर में ही उलझे रहने के कारण। संसार में तो हमेशा रहना है। यदि यहाँ सुखी हो गया तो सादिअनन्त सुखी और यहाँ दु:खी है तो अनादिअनन्त दु:खी ही रहेगा। करना क्या ? मनुष्य भव मिला यह समझने के लिये- मैं साक्षात् भगवान हूँ। जिस प्रकार गरीब के या अमीर के सोने में कोई अन्तर नहीं उसी प्रकार निगोद से लेकर सिद्ध भगवान तक प्रत्येक जीव समान है (शक्ति अपेक्षा)। शक्ति अपेक्षा जीव के जन्म मरण आदि नहीं लेकिन मोही जीव अतीत अनागत का विचार किये बिना, मात्र प्राप्त पर्याय में ही पागल है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं उसी प्रकार शक्ति अपेक्षा मुझ आत्मा है। ऐसा ज्ञान, ऐसा निज शुद्धनय का ज्ञान अपना अनुभव होने पर ही होता है। तब पता चलता है-

आत्म स्वभावम् परभावभिन्नम्, आपूर्णमाधंत विमुक्तमेकम्।
विलीन संकल्प विकल्प जालम्, प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।कलश 10।।

शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदित होता है तब पता चला कि शुद्धनय कैसा है ? कैसा है शुद्धात्मा ? परभावभिन्नम् है, आपूर्णम् है,

भाई ! प्रात:काल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-सन्त-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदि की याद आती है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है ? संसार की तरफ या धर्म की तरफ ? जो आत्मप्रेमी हो, उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

आदिअन्ताविमुक्तम् है, एकं है, संकल्प विकल्प जाल रहितं है। मुझ आत्मा परभावभिन्नम् है। परभावभिन्नम् से क्या तात्पर्य है? कि परद्रव्य हैं कोई कहे कि परद्रव्य हैं ही नहीं यह मिथ्या है। अतः परद्रव्य हैं, परद्रव्य में गुण हैं, परद्रव्य में पर्यायें हैं और पर के निमित्त से होनेवाले मुझ आत्मा में विभाव भाव भी है परन्तु आत्मस्वभाव में उनका प्रवेश नहीं है। मुझ आत्मा त्रिकाल एकरूप पड़ा है। जैसे स्फटिक मणि की प्रतिमा है। उसमें काला कपड़ा लगाने से काली दिखती है, परन्तु उसी समय स्फटिक मणि एकदम स्वच्छ निर्मल है। और कैसा है मुझ आत्मस्वभाव? ऐसा जिज्ञासु के पूछने पर आचार्य कहते हैं कि आत्मस्वभाव आपूर्णम् है। आपूर्णम् यानि क्या? आत्मस्वभाव समस्त प्रकार से पूर्ण है।

पूज्य पण्डितजी का आत्महितकारी सम्बोधन ....

ज्ञायक तो ज्ञायक ही है

1. इस जगत में कलई है, वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है।
2. दीवार आदि परद्रव्य, व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है।
3. श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जानेयोग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं? इस प्रकार दोनों के पारमार्थिक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है।
4. यदि कलई दीवार आदि पर द्रव्य की हो तो क्या हो, सो प्रथम विचार करते हैं —
   - जिसका जो होता है, वह वही होता है; जैसे – आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है, (पृथक द्रव्य नहीं)
   - ऐसा तात्विक सम्बन्ध विद्यमान होने से, कलई यदि दीवार आदि की हो तो कलई, वह दीवार आदि ही होगी; ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का नाश हो जावेगा।
   - परन्तु द्रव्य का नाश तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में संक्रमण होने का तो समयसार, गाथा 103 में पहले ही निषेध किया है।
   - इससे यह सिद्ध हुआ कलई दीवार आदि की नहीं है।

प्रश्न – यदि कलई दीवार आदि की नहीं है तो कलई किसकी है?

उत्तर – कलई की ही कलई है।

शास्त्र बाँचकर आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने की इच्छा न हो क्योंकि यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

प्रश्न – कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी यह कलई है ?

उत्तर – कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कोई कलई नहीं है किन्तु वे दो स्व–स्वामीरूप अंश ही है।

प्रश्न – यहाँ कलई–श्वेत इस स्व–स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ?

उत्तर – कुछ भी साध्य नहीं है। कलई–कलई ही है।

निश्चयनय का सिद्धान्त क्या है ?

1. इसी प्रकार आत्मा, ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है।
2. कैलाशचन्द्र आदि परद्रव्य (द्रव्यकर्म–नोकर्म–भावकर्मादि) व्यवहार से आत्मा का ज्ञेय है।
3. जाननेवाला आत्मा, ज्ञेय जो कैलाशचन्द्र आदि हैं, उनका है या नहीं ? इस प्रकार दोनों के पारमार्थिक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है।
4. यदि आत्मा कैलाशचन्द्र आदि का हो तो क्या हो, इसका प्रथम विचार करते हैं —
   - जिसका जो होता है, वह वही होता है; जैसे, आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है; (पृथक द्रव्य नहीं)
   - ऐसा तात्विक सम्बन्ध विद्यमान होने से आत्मा, यदि कैलाशचन्द्र आदि का हो तो आत्मा कैलाशचन्द्र आदि रूप ही होवे – ऐसा होने पर, आत्मा के स्वद्रव्य का नाश हो जायेगा।
   - किन्तु द्रव्य का नाश तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो समयसार, गाथा 103 में पहले ही निषेध कर दिया है।
   - इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा, कैलाशचन्द्र आदि का नहीं है।

प्रश्न – यदि आत्मा कैलाशचन्द्र आदि का नहीं है तो किसका है ?

उत्तर – आत्मा का ही आत्मा है।

प्रश्न – आत्मा से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा आत्मा है कि जिसका यह आत्मा है ?

उत्तर – आत्मा से भिन्न अन्य कोई आत्मा नहीं है; भिन्न–भिन्न दो स्व–स्वामीरूप अंश ही है।

अरे! आत्मा की शान्ति से बाहर निकलकर, चौरासी के चक्कर में दुःखी होकर दौड़ रहे इस आत्मा को, उससे बाहर निकालने के लिए, अर्थात् दुःख की प्रज्ज्वलित अग्नि में से आत्मा को बचाने के लिए, हे जीव! अन्दर महान शान्ति का सरोवर है, उसमें निज आत्मा को सराबोर कर!

मङ्गल समर्पण

'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिये ही यत्न करना और 'तीव्र मुमुक्षुता' यह है कि अनन्य प्रेम से मोक्ष के मार्ग में प्रतिक्षण प्रवृत्ति करना।

– *श्रीमद् राजचन्द्र*

प्रश्न – **आत्मा, आत्मा को जानता है – ऐसे स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ?**

उत्तर – कुछ भी साध्य नहीं है। फिर आत्मा किसी का नहीं है। ज्ञायक-ज्ञायक ही है।

व्यवहारनय का दृष्टान्त क्या है ?

1. जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली कलई,
2. स्वयं कलई, दीवार आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई,
3. और दीवार आदि परद्रव्य को, कलई अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई
4. दीवार आदि परद्रव्य निमित्त हैं और कलई का श्वेत नैमित्तिक है
5. अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई कलई निमित्त है, दीवार आदि नैमित्तिक है। (अरस-परस, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है)
6. दीवार आदि अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए, दीवार आदि परद्रव्य को, कलई अपने स्वभाव से श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

व्यवहारनय का सिद्धान्त क्या है ?

1. इसी प्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला आत्मा भी,
2. स्वयं आत्मा कैलाशचन्द्र आदि के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ,
3. और कैलाशचन्द्र आदि को अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ,
4. कैलाशचन्द्र आदि निमित्त हैं, ज्ञान, नैमित्तिक है।
5. अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न हुआ आत्मा, निमित्त है; कैलाशचन्द्र आदि नैमित्तिक है (अरस-परस-निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है)
6. कैलाशचन्द्र आदि अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए, कैलाशचन्द्र आदि को आत्मा अपने स्वभाव से जानता है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

●●